अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका
दिसम्बर २०१७

मृत्यु के बाद का जीवन

विषय-सूची

(मृत्यु के बाद का जीवन)

सन्देश/सम्पादकीय		३
मृत्यु के क्षण		६
जीवन से जीवन के परे गमन		१७
मृत्यु के बाद जो होता है		२४
मृत्यु के बाद भी जो बना रहता है		३५
मृत्यु के कई चेहरे		४२
एक संस्मरण	उदार	४८
इहलोक–परलोक	अनीता मूरजानी	४९

'पुरोधा'

दैनन्दिनी		५२
सैण्टा हैं न?	वन्दना	५६

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष–१८०रु.; तीन वर्ष–५२०रु.; पाँच वर्ष–८६०रु.

अधिष्ठाता : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू,
पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

सन्देश

मनुष्य अपना शरीर छोड़ने के लिए बाध्य क्यों होते हैं?

क्योंकि वे प्रकृति के साथ—भगवान् के प्रति उसकी प्रगति में हिस्सा लेने के लिए—क़दम से क़दम मिला कर चलना नहीं जानते।

—श्रीमाँ

सम्पादकीय : जब से मनुष्यों ने जीवन के गभीर रहस्यों पर मनन-चिन्तन करना शुरू किया है तब से मृत्यु के परे के जीवन को जानने के लिए वे बहुत इच्छुक हैं। लेकिन कौन जवाब दे सकता है इस प्रश्न का? सिवाय उसके जो इसी शरीर में 'मृत्यु' के देश से वापिस आया हो या कोई विरल योगी या रहस्यवादी हो जिसने जीवित रहते हुए 'मृत्यु' की अनुभूति पायी हो। हमारा यह चरम सौभाग्य है, हमें उनकी अमूल्य देन प्राप्त है कि अन्य विषयों की तरह इस विषय पर भी हम श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के प्रज्ञापूर्ण वचनों, उनके अन्तर्दर्शनों से सीधा मार्गदर्शन प्राप्त कर सकते हैं। उनके लिए ये रहस्य न चिन्तन, न दार्शनिक विचार-विमर्श के और न ही धार्मिक विश्वास के विषय थे। अतिमानसिक चेतना से सम्पन्न उन्होंने जगत् के सत्यों को 'देखा' है और उस 'परम सत्य' के भी दर्शन किये हैं जो सृष्टि की विभिन्न घटनाओं में उपस्थित है।

इस अंक में हम जीवन के अनगिनत रहस्यों में से उस रहस्य को ज़्यादा गहरे रूप में समझने की चेष्टा करेंगे जो मृत्यु की गभीर निद्रा के परे बसा हुआ है।

मनुष्यों के लिए मैं उस शान्ति की माँग कर रहा हूँ जो कभी असफल न होगी, धरती के लिए मैं अक्षत, कालातीत परमानन्द की माँग कर रहा हूँ, नरक में दु:ख-कष्ट पाने वाली आत्माओं के लिए मैं प्रभु के बल की खोज में और उस अज्ञात खाई को प्रभु के प्रकाश से भरने की तलाश में लगा हूँ।
CWSA खण्ड २, पृ. ६७४ *—श्रीअरविन्द*

आन्तरिक कारण तथा मृत्यु का सच्चा अर्थ

पृथ्वी पर जड़-तत्त्व की अवस्थाओं ने ही मृत्यु को अनिवार्य बनाया। जड़-तत्त्व के विकास का सारा अर्थ ही है, पहले की अचेतन अवस्था से उत्तरोत्तर बढ़ती हुई चेतना में परिणत होना। और परिणत होने की इस प्रक्रिया में, जब यह सब यथार्थ में क्रियान्वित होने लगा तो आकारों का विनाश आवश्यक हो गया। कारण, संगठित व्यष्टिगत चेतना को स्थायी सहारा देने के लिए स्थिर रूप की आवश्यकता हुई। और वस्तुतः आकार की इस स्थिरता ने ही मृत्यु को अपरिहार्य बना दिया। क्योंकि जड़-तत्त्व को आकार धारण करने थे, क्योंकि आकार धारण किये बिना जीवन-शक्तियों अथवा चेतना की शक्तियों का व्यष्टीकरण तथा साकार-रूप असम्भव था, और इनके बिना पार्थिव भूमिका पर संगठित अस्तित्व के लिए प्रारम्भिक अवस्थाओं का अभाव होता। परन्तु आकार में बँधी साकार-रूप-रचना का यह स्वभाव है कि वह तुरन्त कठोर, अनम्य और पाषाणवत् बन जाने की ओर प्रवृत्त होती है। व्यक्तिगत आकार सब ओर से बाँध रखने वाले साँचे के रूप में स्थिर और क़ायम रहना चाहता है, वह शक्तियों की गतियों का अनुसरण नहीं कर सकता, विश्व-लीला की गतिशीलता में जो परिवर्तन होते रहते हैं उनके साथ सामञ्जस्य रख कर वह स्वयं को परिवर्तित नहीं कर सकता, प्रकृति की माँगों को वह लगातार पूरा नहीं कर सकता और वह उसके साथ-साथ नहीं चल सकता, वह प्रवाह के बाहर हो जाता है। आकार और उस पर दबाव डालने वाली शक्ति के बीच जो उत्तरोत्तर बढ़ती हुई असमानता और असामञ्जस्य है जब वह एक अमुक सीमा तक पहुँच जाता है तो आकार को पूर्ण रूप से नष्ट कर देना अनिवार्य हो जाता है। तब एक नये आकार की सृष्टि करनी पड़ती है, एक नवीन सामञ्जस्य और समानता को सम्भावित करना पड़ता है। मृत्यु का सच्चा अर्थ यही है और प्रकृति में इसका यही उपयोग है। परन्तु आकार यदि अधिक फुर्तीला और नमनशील बन सके और शरीर के अणुओं को बदलती हुई चेतना के अनुसार जाग्रत् किया जा सके तो ऐसे उग्र विनाश की आवश्यकता नहीं होगी, मृत्यु अपरिहार्य नहीं रह जायेगी।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ४२-४३

मृत्यु का क्षण

मृत्यु के प्रति उचित मनोभाव

चाहे जो भी परिस्थिति हो, यदि तुम्हारा मन उसे अनुकूल वस्तु के रूप में देखने का अभ्यासी हो तो वह तुम्हारे लिए ज़रा भी कष्टदायी नहीं रहेगी। यह बिलकुल सुपरिचित बात है; जब तक मन किसी चीज़ को स्वीकार करने से इनकार करता है, उससे संघर्ष करता है, उसे बाधा पहुँचाने की कोशिश करता है, तब तक मनुष्य के अन्दर यन्त्रणाएँ, कठिनाइयाँ, तूफ़ान, आन्तरिक संघर्ष तथा समस्त दुःख-क्लेश रहते ही हैं। परन्तु जिस क्षण मन यह कहता है, "बहुत अच्छा, यही चीज़ है जिसे आना था, बस, इसी तरह इसे घटित होना था," तो जो कुछ होता है उससे तुम सन्तुष्ट रहते हो। ऐसे लोग हैं जिन्होंने अपने शरीर पर अपने मन का ऐसा संयम प्राप्त कर लिया है कि वे कुछ भी अनुभव नहीं करते; उस दिन मैंने कुछ गुह्यवादियों के विषय में यही बात कही थी: यदि वे यह समझते हैं कि जो यातना उन्हें पहुँचायी जा रही है वह उन्हें एक क्षण में अपनी चेतना के वर्तमान स्तरों को पार करने में और 'सिद्धि' प्राप्त करने, अपने सामने रखे हुए लक्ष्य को प्राप्त करने, भगवान् के साथ एकत्व प्राप्त करने के लिए उन्नति के एक साधन के रूप में सहायता करेगी तो फिर वे यातना का अनुभव बिलकुल नहीं करते। ऐसा लगता है मानों उनके शरीर पर मानसिक विचार की कलई चढ़ गयी हो। ऐसी बात बहुत बार घटित हो चुकी है; यह उन लोगों का बहुत सामान्य अनुभव रहा है जिनमें वास्तव में तीव्र धर्मानुराग रहा है। और आख़िरकार, यदि मनुष्य को किसी-न-किसी कारणवश अपना शरीर छोड़ना और नया शरीर लेना ही हो तो क्या यह अधिक अच्छा नहीं है कि मृत्यु को कोई बीभत्स पराजय बनाने की जगह भव्य, हर्षयुक्त और उत्साहपूर्ण वस्तु बना दिया जाये? जो लोग जीवन से चिपके रहते हैं, जो एक या दो क्षण भी अपना अन्त रोक रखने के लिए प्रत्येक सम्भवनीय उपाय से चेष्टा करते हैं, जो तुम्हारे सामने भीषण वेदना का उदाहरण रखते हैं, वे यह प्रदर्शित करते हैं कि वे अपनी अन्तरात्मा के विषय में सचेतन नहीं हैं...।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ४२४

मृत्यु केवल एक साधन है

फिर भी, यह शायद एक साधन है, है न? मनुष्य इस घटना को एक साधन में बदल सकता है; यदि मनुष्य सचेतन हो तो वह, प्रत्येक चीज़ की तरह, मृत्यु को भी एक सुन्दर वस्तु, बहुत सुन्दर वस्तु बना सकता है। और ध्यान दो, जो लोग इससे नहीं डरते, जो बेचैन नहीं होते, जो बिना किसी मलिनता के मर सकते हैं, वे ऐसे लोग होते हैं जो कभी मृत्यु की बात नहीं सोचते, अपने सम्मुख उपस्थित इस "सन्त्रास" से हर समय घिरे नहीं रहते जिससे कि उन्हें अवश्य बचना है और जिसे वे अपने से जितनी दूर सम्भव हो उतनी दूर धकेलने की कोशिश भी करते हैं। ऐसे लोग जब अवसर उपस्थित होता है, अपना मस्तक उठा सकते और हँसते हुए कह सकते हैं कि "मैं यहाँ हूँ।"

बस, ये ही लोग हैं जिनके अन्दर अपने जीवन का यथासम्भव सर्वोत्तम उपयोग करने का संकल्प होता है, ये ही लोग हैं जो कहते हैं, "जब तक आवश्यक है तब तक, उसके अन्तिम क्षण तक, मैं यहाँ बना रहूँगा और मैं अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए एक क्षण भी नहीं खोऊँगा;" ये ही लोग, जब आवश्यकता पड़ती है, सर्वोत्तम दृश्य उपस्थित करते हैं। क्यों?—यह बहुत सरल है, क्योंकि वे अपने आदर्श में निवास करते हैं, अपने आदर्श के सत्य में रहते हैं; क्योंकि उनके लिए यही सच्ची वस्तु होती है, उनके जीने का एकमात्र प्रयोजन, और सभी वस्तुओं में वे इस आदर्श को, सत्ता के इस प्रयोजन को देख सकते हैं, और वे कभी भी स्थूल जीवन की गन्दगी में नीचे नहीं उतरते।

अतएव, निष्कर्ष यह रहा :

कभी मृत्यु की इच्छा नहीं करनी चाहिये।

कभी मरने का संकल्प नहीं करना चाहिये।

कभी मरने से भयभीत नहीं होना चाहिये।

और सभी परिस्थितियों में अपने-आपको अतिक्रम करने का संकल्प बनाये रखना चाहिये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ४२४-२५

मृत्यु का भय

जब व्यक्ति को मरना होता है तब वह मरता है, जब नहीं मरना होता तो नहीं मरता। तुम भले प्राणघातक संकट में हो, अगर तुम्हारे मरने का समय नहीं आया है तो तुम नहीं मरोगे, दूसरी ओर, तुम भले सब संकटों से परे होओ, पाँव में ज़रा-सी खेंख भी तुम्हें मारने के लिए काफ़ी हो सकती है, ऐसे लोग हैं जो पैर पर पिन की खरोंच लगने के कारण मर गये, क्योंकि समय आ गया था। इसलिए, भय का कोई अर्थ नहीं है। तुम जो कर सकते हो वह यह है—अपने-आपको एक ऐसी चेतना में ऊपर उठा लो जहाँ तुम कह सको : "बात ऐसी है, हम इस तथ्य को स्वीकारते हैं, क्योंकि ऐसा लगता है कि इसे अनिवार्य तथ्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। लेकिन मुझे चिन्ता करने की कोई ज़रूरत नहीं, क्योंकि वह तभी आयेगी जब उसे आना चाहिये। इसलिए मुझे डरने की ज़रूरत नहीं : जब उसे नहीं आना है तब वह मेरे पास नहीं आयेगी, लेकिन जब उसे मेरे पास आना होगा तब आयेगी ही। और चूँकि वह अनिवार्य रूप से मेरे पास आयेगी, ज़्यादा अच्छा यही है कि मैं उससे न डरूँ; इसके विपरीत, जो चीज़ बिलकुल स्वाभाविक है उसे स्वीकार करना चाहिये।" यह सुपरिचित उपचार है, यानी, इसका बहुत उपयोग होता है।

एक और उपचार है, कुछ ज़्यादा कठिन, पर मेरा ख़याल है, ज़्यादा अच्छा। इसमें अपने-आपसे कहना होता है : "यह शरीर मैं नहीं हूँ।" और अपने अन्दर उस भाग को जानने की कोशिश करनी होती है जो सचमुच हमारा "अपनापन" है जब तक कि चैत्य पुरुष न मिल जाये। और जब चैत्य पुरुष मिल जाता है तो—तुरन्त, समझे—अमरता का भान होता है। और व्यक्ति यह जान लेता है कि जो बाहर जाता या अन्दर आता है वह केवल सुविधा की बात है। "मैं उन जूतों के लिए रोने नहीं बैठूँगा जो छेदों से भरे पड़े हैं! जब मेरे जूतों की जोड़ी घिस जाती है तो मैं उन्हें फेंक देता हूँ और रोना-धोना नहीं करता।" हाँ, तो चैत्य पुरुष ने यह शरीर इसलिए धारण किया है क्योंकि उसे अपने काम के लिए इसकी ज़रूरत थी, लेकिन जब शरीर छोड़ने का समय आता है, यानी, जब उसे छोड़ना ज़रूरी होता है, वह किसी-न-किसी कारण से उपयोगी नहीं रहता तो व्यक्ति शरीर छोड़ देता है। उसे कोई डर नहीं होता। यह एक स्वाभाविक क्रिया होती है—और

ज़रा भी पछतावे के बिना की जाती है। बस ख़तम।

और जिस क्षण तुम अपने चैत्य पुरुष में होते हो, उसी क्षण तुम्हारे अन्दर यह भाव बिना प्रयास के, सहज रूप में आ जाता है। तुम भौतिक जीवन से ऊपर उठ जाते हो और तुम्हें अमरता का बोध होता है। मैं, मैं तो इसी को सर्वश्रेष्ठ इलाज मानती हूँ।...

हाँ, अब एक तीसरी चीज़ भी है जिसे तुम्हें जानना चाहिये। लेकिन इसके लिए तुम्हें महायोगी होना चाहिये। इसका अर्थ है यह जानना कि मृत्यु कोई अनिवार्य चीज़ नहीं है, यह एक ऐसा संयोग है जो अभी तक होता रहा है (ऐसा लगता है कि यह अभी तक हमेशा ही होता रहा है), कि हमने अपने मस्तिष्क में, अपने संकल्प में यह ठान लिया है कि इस संयोग को जीत कर, इस पर विजय पाकर रहेंगे। लेकिन यह भयंकर है, 'प्रकृति' के विधान के विरुद्ध, समस्त सामूहिक धारणाओं, समस्त पार्थिव अभ्यासों के विरुद्ध घोर संग्राम है। जैसा कि मैंने कहा, जब तक तुम प्रथम कोटि के योद्धा नहीं हो जिसे कोई नहीं डरा सकता, तब तक इस संग्राम को शुरू न करना ही ज़्यादा अच्छा है। तुम्हें पूर्ण रूप से निर्भीक योद्धा होना चाहिये, क्योंकि हर पग पर, हर पल तुम्हें सभी स्थापित वस्तुओं के विरुद्ध युद्ध करना होगा। तो यह बहुत आसान चीज़ नहीं है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ३४७-४८

व्यक्ति तभी मरता है जब वह मरना स्वीकार कर ले

आपने कहा है : "व्यक्ति मृत्यु के समय को न तो टाल सकता है, न उसे शीघ्र ही ला सकता है।" किन्तु यदि व्यक्ति प्रगति करना बन्द कर दे तो उसकी मृत्यु आ जाती है। अतएव, यदि व्यक्ति प्रगति करता रहे, तो वह उस घड़ी को टाल सकता है। या फिर क्या इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति के जन्म से ही उसकी मृत्यु का दिन और मुहूर्त निश्चित हो चुका होता है?

नहीं। यह बिलकुल और ही बात है और है भी एक अन्य स्तर की। मैंने कहीं यह भी लिखा है कि व्यक्ति केवल तभी मरता है जब वह मरना स्वीकार कर ले—यह बात उस बात की विरोधी मालूम होती है जो मैंने

यहाँ कही है। किन्तु सत्य यही है। मेरा ख़याल है, मैं यह बात तुम्हें एक बार पहले भी कह चुकी हूँ; जो भी हो, मैंने यह कहीं लिखा अवश्य है। इसके दो दृष्टिकोण हैं। यहाँ मैंने अपनी बात एक बड़े सामान्य, स्थूल और भौतिक चेतना के दृष्टिकोण से कही है। किन्तु मैंने किसी स्थान पर यह भी समझाया है कि हमारी सत्ता में मानों "नियतियों के विभिन्न स्तर" हैं। भौतिक सत्ता की अपनी एक नियति है; प्राणिक सत्ता की अपनी नियति है; मानसिक सत्ता की अपनी; उच्चतर मन और अन्तरात्मा की भी अपनी-अपनी नियति है। और फिर उच्चतर सत्ताओं की भी अपनी नियतियाँ हैं —अतिमानसिक सत्ता की अपनी नियति है। प्रत्येक की नियति इन सब नियतियों के संयोग से बनती है (निश्चय ही मैंने यह कहीं लिखा है)। यदि, उदाहरणार्थ, किसी एक क्षण, जब समूची भौतिक नियति को मृत्यु लानी ही होती है, तब यदि तुम एक अत्युच्च नियति के सम्पर्क में आ जाते हो, उदाहरणार्थ, अतिमानसिक नियति के सम्पर्क में आकर दोनों को जोड़ने में सफल हो जाते हो, तब उस क्षण तुम भौतिक नियति को पूर्णतया बदल देते हो : जो मृत्यु भौतिक नियति से निर्धारित थी वह टल जाती है, और अवस्थाएँ बदल जाती हैं और उन्हें पीछे हटा दिया जाता है।...

यदि तुम एक उच्चतर नियति का हस्तक्षेप नहीं करवा सकते, तो सचमुच तुम किसी भी वस्तु को नहीं बदल सकते। भौतिक नियति को बदलने का एकमात्र तरीक़ा यही है। यदि तुम अपनी भौतिक चेतना में ही बने रह कर अपनी नियति को बदलना चाहो, तो यह नहीं कर सकते...।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ५५-५६

अपनी नियति के स्वामी बनो

कभी-कभी मरते समय लोगों को पता होता है कि वे मरने वाले हैं, तो उस समय वे मृत्यु की आत्मा को चले जाने के लिए क्यों नहीं कह देते?

ओह! यह लोगों पर निर्भर करता है। दो चीज़ें ज़रूरी हैं। सबसे पहले, तुम्हारी सत्ता में कोई चीज़, तुम्हारी सत्ता का कोई भाग मरना न चाहता हो, यह बहुधा नहीं होता। तुम्हारे अन्दर हमेशा कहीं-न-कहीं, एक पराजयवादी

बैठा होता है, कोई ऐसी चीज़ जो थक गयी है, कोई ऐसी चीज़ जिसमें घृणा या जुगुप्सा के कारण विरक्ति आ गयी है, कोई चीज़ जो कहती है : "बस, बहुत हो लिया," कोई चीज़ जो आलसी है, कोई चीज़ जो संघर्ष नहीं करना चाहती और कहती है : "अच्छा, चलो! ख़तम करो, यह बहुत ज़्यादा अच्छा होगा।" इतना काफ़ी है और तुम मर जाते हो।

लेकिन यह तथ्य है : अगर तुम्हारे अन्दर कोई चीज़, कोई भी चीज़ मरना न चाहे, तो तुम नहीं मरोगे। मरने वाले के लिए हमेशा एक सेकेण्ड, शायद सेकेण्ड का भी सौंवा हिस्सा ऐसा होता है जब वह मौत के लिए अपनी स्वीकृति दे देता है। अगर निमिषमात्र की यह स्वीकृति न हो तो वह नहीं मरता।

मैं ऐसे लोगों को जानती थी जिन्हें सचमुच सभी भौतिक और प्राणिक नियमों के अनुसार मर जाना चाहिये था, लेकिन उन्होंने इनकार कर दिया, उन्होंने कहा : "नहीं, मैं नहीं मरूँगा," और वे जीते रहे। दूसरे ऐसे होते हैं जिन्हें मरने की कोई ज़रूरत नहीं, परन्तु वे उस प्रकार के हैं और कहते हैं : "हाँ, ठीक है, ज़्यादा अच्छा है, क़िस्सा ख़तम," और क़िस्सा ख़तम हो जाता है। उतना ही, उससे कुछ भी ज़्यादा नहीं। तुम्हारे अन्दर सतत इच्छा की ज़रूरत नहीं, तुम्हें बस इतना ही कहना होगा : "बस, काफ़ी हो गया!" और क़िस्सा ख़तम हो जायेगा। तो सचमुच ऐसा ही है। जैसा तुम कहते हो, मृत्यु तुम्हारे बिस्तर के पास खड़ी हो और तुम कह दो : "मैं तुम्हें नहीं चाहता, चली जाओ," और वह जाने के लिए बाधित होगी। लेकिन साधारणतः, व्यक्ति हार मान लेता है। क्योंकि व्यक्ति को संघर्ष करना चाहिये, उसे मज़बूत होना चाहिये, उसे बहुत साहसी और सहनशील होना चाहिये, उसे जीवन की आवश्यकता पर बहुत विश्वास होना चाहिये; उदाहरण के लिए, उस व्यक्ति की तरह जो बहुत तीव्रता से यह अनुभव करता है कि अभी उसे कोई काम करना है और उसे वह अवश्य करना ही है। लेकिन निश्चित रूप से कौन कह सकता है कि उसमें पराजयवादी का लेशमात्र भी नहीं है, कहीं भी ऐसा कुछ नहीं है जो कहता है : "ठीक है"?... यहीं है अपनी सारी सत्ता को एक करने की आवश्यकता।

हम चाहे जिस मार्ग का अनुसरण करें, किसी भी विषय का अध्ययन करें, हम उसी परिणाम पर पहुँचते हैं। व्यक्ति के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण

बात है, अपने भागवत केन्द्र के चारों ओर अपने-आपको एक करना; इस तरह वह सच्चा व्यक्ति बन जाता है, अपनी नियति का और अपने-आपका स्वामी बन जाता है, अन्यथा वह ऐसी शक्तियों का खिलौना रहता है जो उसे नदी में पड़े कॉर्क के टुकड़े की तरह इधर-उधर उछालती रहती हैं। वह जहाँ नहीं जाना चाहता वहाँ जाता है, वह जो नहीं करना चाहता वही उससे करवाया जाता है, और अन्त में वह एक छिद्र में जा गिरता है जहाँ से बचने के लिए उसमें शक्ति नहीं होती। लेकिन अगर तुम सचेतन रूप से संगठित हो, भागवत केन्द्र के चारों ओर एकीकृत हो, वही तुम पर शासन और तुम्हारा निर्देशन करे, तो तुम अपनी नियति के स्वामी हो। यह प्रयास कष्ट उठाने-योग्य है।...

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. १५२-५३

आत्म-हत्या—बहुत बड़ी कायरता

आत्म-हत्या करने पर व्यक्ति को कष्ट क्यों होता है?

व्यक्ति आत्म-हत्या क्यों करता है? क्योंकि वह कायर होता है...। जब व्यक्ति कायर होता है तो हमेशा तक़लीफ़ पाता है।

और अगले जीवन में वह फिर से कष्ट पाता है?

चैत्य पुरुष किसी निश्चित लक्ष्य से, विशेष प्रकार के अनुभवों में से गुज़रने के लिए, सीखने और प्रगति करने के लिए आता है। अगर तुम उसका काम पूरा होने से पहले शरीर छोड़ दो, तो उसे फिर से वही काम और भी ज़्यादा कठिन परिस्थितियों में पूरा करने के लिए वापिस आना पड़ेगा। तो एक जीवन में तुमने जिन-जिन चीज़ों से बचने की कोशिश की है उन सबको अगले जीवन में फिर से पाओगे, और तब वे ज़्यादा कठिन होंगी। और इस तरह छोड़े बिना भी, अगर तुम्हें जीवन में कुछ कठिनाइयों को पार करना है, जैसा कि सामान्यतया कहते हैं कि तुम्हें कोई परीक्षा पास करनी है, समझे; और, अगर तुम इस बार पास न कर सको या उधर से मुँह मोड़ लो, या उसे पास करने की बजाय वहाँ से चले जाओ तो तुम्हें

उसे फिर से पास करना होगा, और तब वह पहली बार की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन होगी।

तुम जानते ही हो कि लोग बहुत अज्ञानी होते हैं, वे समझते हैं कि चीज़ इस प्रकार है: जीवन है, और फिर मृत्यु है; जीवन कष्टों की गठरी है, और मृत्यु शाश्वत शान्ति। लेकिन बात ऐसी हर्गिज़ नहीं है। साधारणतः, जब कोई सहसा, बिलकुल मनमाने ढंग से, अज्ञान-भरे और अन्धकारपूर्ण आवेग में जीवन से बाहर चला जाता है तो प्रायः वह सीधा इन तमाम आवेगों और समस्त अज्ञान से भरे प्राणमय जगत् में चला जाता है। तो वह जिन कष्टों से बचना चाहता था, फिर से उन्हीं को पाता है और अब वह सुरक्षा भी प्राप्त नहीं होती जो शरीर प्रदान करता है, क्योंकि—अगर तुमने कभी दुःस्वप्न देखा है, यानी, प्राणमय जगत् में अँधाधुन्ध यात्रा की है तो तुम्हारे पास उपाय होता है, अपने-आपको जगा देना, यानी, तुरन्त अपने शरीर में दौड़ आना। लेकिन जब तुमने शरीर को नष्ट कर दिया, तो फिर रक्षा करने के लिए तुम्हारे पास शरीर नहीं रहता। इसलिए तुम अपने-आपको निरन्तर दुःस्वप्न में पाते हो जो बहुत सुखद नहीं होता। क्योंकि दुःस्वप्न से बचने के लिए तुम्हें चैत्य चेतना में होना चाहिये, और जब तुम चैत्य चेतना में होते हो, तो निश्चय जानो कि चीज़ें तुम्हें कष्ट न देंगी। जैसा कि मैंने कहा, निरन्तर जो प्रयास होना चाहिये, उसके समक्ष यह सचमुच अज्ञानपूर्ण अन्धकार की चेष्टा है और बहुत बड़ी कायरता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. २५-२६

सतत स्मरण और मृत्यु का क्षण

हमारा विचार, हमारी आन्तरिक दृष्टि, हमारी श्रद्धा जिस किसी बात पर पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो जाती है, उसी में हमारी आन्तरिक सत्ता परिवर्तित होने लगती है। हमारी यह प्रवृत्ति उस समय एक निर्णायक शक्ति बन जाती है जब हम उन उच्चतर आध्यात्मिक और स्वयं-विकसित अनुभवों को प्राप्त करते हैं जो बाहरी चीज़ों पर, हमारे बाहरी परिवेश पर निर्भर नहीं करते... हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि जिस किसी वस्तु पर हम अपने मन को स्थिर कर लेते हैं और जिसकी निरन्तर अभीप्सा करते रहते हैं, धीरे-धीरे वही होते जाते हैं। इसीलिए अपनी अभीप्सा से नीचे

गिरना, स्मरण में व्यतिक्रम का आ जाना इत्यादि ऐसी चीज़ें हैं जिनसे हमें यथासम्भव तब तक बचना चाहिये जब तक हम अपने नूतन भाव, नूतन आधार-निर्माण को वास्तविक रूप न दे चुके हों और उन्हें अपरिवर्तनीय तरीक़े से स्थापित न कर चुके हों। जब यह हो जाता है तब हम उस चीज़ को अपने सतत सामान्य अनुभव की चीज़ बना लेते हैं और तब उसकी स्मृति स्वतःसिद्ध रूप से बनी रहती है क्योंकि वह हमारी चेतना का ही स्वाभाविक रूप बन जाती है। इससे मर्त्य जगत् से प्रयाण करने के सन्धि-क्षण में हमारी चेतना जिस स्तर को प्राप्त कर लेती है उसका महत्त्व होता है। लेकिन यह मृत्युशैया पर किसी तरह बस भगवान् का नामोच्चारण करना नहीं है जिसका हमारी सम्पूर्ण जीवनधारा और हमारी पूर्वतन मनःस्थिति से कोई मेल ही न हो, यानी अन्तिम समय किसी तरह भगवान् का नाम निकलवा लेने का कोई महत्त्व नहीं होता। इस नामोच्चारण में कोई उद्घाटक शक्ति नहीं होती। यहाँ *गीता* जो बात बतला रही है वह वह चीज़ नहीं है जिसे सामान्य लौकिक धर्म मुक्ति का सहज मार्ग समझ कर करते हैं; अर्थात्, भले व्यक्ति का सारा जीवन अपवित्रता में बीता हो और फिर भी पादरी के द्वारा अन्त में प्रायश्चित्त करा लेने से ही ईसाई का मरण-काल में पवित्र हो जाना अथवा पवित्र काशीधाम में मरने या पतितपावनी गंगा के तट पर शरीर छोड़ने से ही मुक्ति का मिल जाना इत्यादि जो बेसिर-पैर की बातें हैं उनसे *गीता* की इस बात का कोई मेल नहीं है। मृत्यु के समय मन को जिस दिव्य भाव पर अचल रूप से स्थिर करना—*यं स्मरन् भावं त्यजति अन्ते कलेवरम्*—होता है वह तो वही भाव हो सकता है जिसकी ओर आत्मा अपने सांसारिक जीवन में प्रतिक्षण आगे बढ़ती रही हो—*सदा तद्भावभावितः*। "इसीलिए" प्रभु कुरुक्षेत्र में अर्जुन से कहते हैं कि "सदा मेरा ही स्मरण करते रहो और युद्ध करो; अगर तुम्हारा मन और तुम्हारी बुद्धि सदा ही मुझ पर स्थिर और मुझे ही अर्पित रहेंगे—*मयि अर्पितमनोबुद्धिः*—तो तुम निश्चय ही मेरे पास चले आओगे। क्योंकि सतत रूप से अविचल योगाभ्यास के द्वारा एकचित्त होकर निरन्तर परम पुरुष तथा भगवान् का चिन्तन करने से व्यक्ति उन्हीं को प्राप्त होता है।"

CWSA खण्ड १९, पृ. २९५-९६

बेहोशी में भी माँ का नाम जपते रहना

'क' ने शरीर छोड़ दिया। उसका ऑपरेशन अद्वितीय रूप से, लगभग चमत्कारिक रूप से सफल रहा—यह उन त्रासदायक ऑपरेशनों में से था जिसमें तुम्हारे शरीर का कोई हिस्सा निकालना पड़ता है! चार दिनों तक वह एकदम ठीक रहा, लेकिन उसके बाद चीज़ पूरी तरह से बिगड़ गयी।

ऑपरेशन के समय और बाद में भी, मैंने उस पर अपनी शक्ति उँडेली थी, ऐसे मामलों में जैसा कि मैं हमेशा किया करती हूँ, ताकि अच्छे से अच्छा परिणाम निकले। अभी कुछ दिन पहले, मेरे जाप के समय, एक तरह का आदेश उतरा—बहुत ही स्पष्ट आदेश—कि मैं उस पर एकाग्र होऊँ ताकि वह अपनी अन्तरात्मा के प्रति सचेतन हो जाये और सर्वोत्तम अवस्थाओं में अपना शरीर छोड़ सके। और मैंने देखा कि मेरी एकाग्रता ने अद्‌भुत रूप से कार्य किया: ऐसा लगता है कि अपने अन्तिम दिनों में वह लगातार बस माँ-माँ-माँ का ही जाप कर रहा था—यहाँ तक कि बेहोशी की अवस्था में भी।

एकाग्रता बढ़ती गयी, बढ़ती गयी। परसों वह बहुत, बहुत ही शक्तिशाली हो गयी और कल दोपहर, क़रीब साढ़े बारह बजे, मेरी एकाग्रता ने मुझे अन्दर खींच लिया; वह मेरे पास नींद की-सी अवस्था में आया, सचेतन नींद, और मैं प्रायः ऊँचे स्वर में बोल उठी, 'ओह, 'क'!'

यह चीज़ पन्द्रह मिनटों तक चली; मैं पूरी तरह से अपने अन्दर एकाग्र, दत्तचित्त थी, मानों उसकी अगवानी के लिए, उसे अपने अंक में समेटने के लिए एकदम प्रस्तुत थी।

२८ मई १९६० *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

पिछले जन्मों को बहुत महत्त्व नहीं देना चाहिये। इस योग में महत्त्वपूर्ण है वह जो तुम हो और उससे भी ज़्यादा जो तुम बनोगे। तुम क्या थे, इसका महत्त्व बहुत कम है।

—श्रीअरविन्द

जब मैंने उनसे (८ दिसम्बर, १९५० को) अपने शरीर को पुनरुज्जीवित करने के लिए कहा, तो उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया: "मैंने जान-बूझकर यह शरीर छोड़ा है। मैं इसे वापिस नहीं लूँगा। मैं पुनः अतिमानसिक तरीक़े से बनाये गये पहले अतिमानसिक शरीर में आविर्भूत होऊँगा।"

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. ९

*

क्या मैं मृत्यु को स्वीकार कर लूँ या मुड़ कर उसके साथ कुश्ती करके उस पर विजय प्राप्त करूँ? इसका निर्णय मेरे अन्तरस्थित भगवान् को ही करना होगा। मैं जीवित रहूँ या मृत्यु को प्राप्त होऊँ, मेरा अस्तित्व सदा ही रहेगा।

CWSA खण्ड १२, पृ. ४७२-७३ *—श्रीअरविन्द*

जीवन से जीवन के परे गमन

जीवित और मृत

मनुष्य ने मृत्यु को भयानक और सांघातिक बना लिया है। पिछले दिनों मैंने देखा—पिछली रात या उससे पिछली रात, मैंने कम-से-कम दो घण्टे एक ऐसे जगत् में गुज़ारे जिसे सूक्ष्म-भौतिक[१] कहते हैं, जहाँ जीवित और मृत बिना कोई भेद-भाव अनुभव किये साथ-साथ विचरते हैं—इससे कुछ फ़र्क नहीं पड़ता। वहाँ कोई फ़र्क है ही नहीं। वहाँ जीवित सत्ताएँ थीं —सत्ताएँ जिन्हें हम "जीवित" कहते हैं और वे भी जिन्हें हम "मृत" कहते हैं। वे सत्ताएँ वहाँ थीं, इकट्ठी रहती थीं, वे इकट्ठी खाती थीं, वे इकट्ठी चलती-फिरती थीं, इकट्ठी मनबहलाव करती थीं, सब काम मिल कर करती थीं। वह सब एक सुन्दर प्रकाश में होता था, शान्त और बहुत सुखकर। यह बहुत सुखकर था। मैंने अपने-आपसे कहा : देखो, मनुष्यों ने ही इस प्रकार एक दरार डाल दी है और फिर कहते हैं : "अब : मृत्यु!" और मृत्यु! सबसे ज़्यादा यह कि तुम उनके साथ ऐसा व्यवहार करते हो मानों वे अचेतन वस्तुएँ हैं जब कि यह शरीर अभी चेतन है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. १७३

ऐसा भी होता है...

... एक ऐसे व्यक्ति का दृष्टान्त भी हमारे सम्मुख आया था कि जब मृत्यु के बाद उसे श्मशान घाट लाया गया, अचानक मूसलाधार बारिश शुरू हो गयी—जलाने का कोई सवाल ही नहीं था। लोगों ने शव को वहीं छोड़ दिया, बोले, "आज असम्भव है, कल सवेरे आकर दाह-संस्कार कर दिया जायेगा।" लेकिन अगली सवेरे जब वे वहाँ पहुँचे तो देखा कि मृतक वहाँ नहीं था! (हँसी) वह चला गया था! लेकिन बात यहीं नहीं ख़तम हो जाती : तीस साल बाद वह वापिस लौट आया (वह एक राजा था)। उसे कुछ संन्यासी उठा ले गये थे, वे उसे एकान्तवास में ले गये, वह भी

१. चेतना, जो जड़-पदार्थ से आत्मा तक आरोहण करती है। उसके क्रमशः बढ़ते स्तरों में सूक्ष्म-भौतिक ही वह अवस्था या स्तर है जो जड़-पदार्थ के सबसे अधिक नज़दीक है।

संन्यासी बन गया, लेकिन पता नहीं क्यों और कैसे, तीस साल बाद उसके मन में विचार कौंधा कि उसे बाहर निकल कर अपना राजपाट वापिस ले लेना चाहिये, तो वह वापिस अपने राज्य में लौट आया और सबूतों के साथ उसने प्रमाणित कर दिया कि सचमुच वह वही समान व्यक्ति था!...

१० अगस्त १९६३ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

दाह-संस्कार में जल्दबाज़ी नहीं करनी चाहिये

जब लोग-बाग शव का दाह-संस्कार जल्द-से-जल्द कर देना चाहते हैं तो कभी-कभी वे उसे जीवित ही जला देते हैं... उन्हें प्रतीक्षा करनी चाहिये।

क्योंकि रूप और आकार की भी एक चेतना होती है, जीवन होता है। एक चेतना होती है, कोषाणुओं के द्वारा रचित चेतना। उसे निकलने में सात दिन लगते हैं। कभी-कभी दाह-संस्कार के समय जब शरीर की आकस्मिक क्रियाएँ होती हैं तो लोग कहते हैं कि ये यान्त्रिक हैं। लेकिन सचमुच ये यान्त्रिक नहीं होतीं। मैं जानती हूँ कि ये यान्त्रिक नहीं होतीं।

मैं जानती हूँ। मैं जानती हूँ कि आकार की एक चेतना होती है, क्योंकि वास्तव में मैं इससे बाहर निकल कर गयी हूँ। एक बार, बहुत समय पहले, मैं तथाकथित स्तब्ध अवस्था में थी, निर्जीव-सी अवस्था में, और कुछ समय बाद, उसी अवस्था में होते हुए, मेरा शरीर दोबारा स्पन्दित होने लगा; यानी वह बोलने, यहाँ तक कि हिलने-डुलने में भी समर्थ हो गया ('तेओं' ने मुझे यह शिक्षा दी थी)। शरीर उठ कर क्रिया करने लगा। लेकिन वैसे, शरीर से सब कुछ चला गया था!

एक बार शरीर से सारा जीवन निकल जाता है तो स्वभावतः शरीर ठण्डा पड़ जाता है, लेकिन शरीर की चेतना फिर भी, हवा से, इधर-उधर से थोड़ी-सी ऊर्जा खींचने में सफल हो जाती है... और मैं उसी अवस्था में बोली थी। मैंने बहुत अच्छी तरह से वह सब सुनाया जो मैंने उस जगत् में देखा था।

इसीलिए मैं दाह-संस्कार के बहुत पक्ष में नहीं हूँ।

मेरे ख़याल से यहाँ, भारत में दाह-संस्कार इसीलिए किया जाता है (हाँ, गम्भीर बीमारियों की बात अलग है जिनमें स्वास्थ्य और स्वच्छता का ध्यान रखना बहुत ज़रूरी होता है) क्योंकि उनमें उन छोटी-मोटी सत्ताओं

का बड़ा डर रहता है जो कामनाओं-आवेशों इत्यादि भावनाओं की उपज हैं—वे चीज़ें जो हवा में बिखर जाती हैं और जिन्हें 'भूत-प्रेत-पिशाच' इत्यादि की संज्ञा मिल जाती है। सभी कामनाएँ, सभी आसक्तियाँ, ऐसी सभी चीज़ें उन टुकड़ों के समान होती हैं जो शरीर छूटने के बाद कण-कण में बदल जाती हैं (प्रत्येक अपने रास्ते हो लेती है) फिर, अपनी यात्रा के दौरान ये कण दोबारा अपने परिवेश के वातावरण से बल इकट्ठा कर लेते हैं और जब वे किसी दुर्बल को देखते हैं तो उस पर जोंक की तरह चिपक कर उसकी प्राणशक्ति चूसने लगते हैं और अपनी अतृप्त कामनाओं को पूरा करने की कोशिश में लगे रहते हैं।

संसार, पृथ्वी का वातावरण, गन्दगी से भरा पड़ा है।

और यहाँ के लोग यूरोपवासियों से कहीं ज़्यादा संवेदनशील हैं, क्योंकि ये अधिक अन्तर्मुखी होते हैं, इसी कारण ये इन सभी छोटी-मोटी सत्ताओं के प्रति सचेतन होते हैं और स्वाभाविक है कि उनसे भय भी खाते हैं। और जितना ज़्यादा वे उनसे डरते हैं, उतना ज़्यादा वे उन्हें चूसती हैं!

मेरे ख़याल से ऐसी बहुत सारी सत्ताएँ—जो बहुत उपद्रव मचाती हैं—आग से तितर-बितर हो जाती हैं।

२८ मई १९६० *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

वास्तव में, लोग मृतकों का दाह-संस्कार इस कारण करते हैं ताकि इस तरह प्राण को समाप्त कर दें, मुझे इसका विश्वास है। उसके पीछे यह विचार होता है कि वे प्राणिक सत्ताएँ भूत-प्रेत बन कर न घूमती रहें।

२७ जुलाई १९६३ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

उच्चतर स्तरों की सत्ताएँ धरा पर हमेशा जन्म ले सकती हैं—उस अवस्था में वे अपने लिए मन और प्राण का निर्माण कर लेती हैं या उन मन, प्राण और शरीर से मिल जाती हैं जो पहले से उनके प्रभाव के अधीन तैयार किये गये थे—वस्तुतः उनके आविर्भाव के तरीक़े अनेक हैं, एक ही नहीं।

—श्रीअरविन्द

मृतक की मदद करना

यदि मृत्यु के समय प्राणिक सत्ता के ऊपर प्राण-जगत् में विरोधी शक्तियों या सत्ताओं के द्वारा आक्रमण हो तो क्या वह कहीं पर किसी आश्रयस्थल की खोज नहीं करती?

हाँ, बस यही कारण है कि सभी देशों में और सभी धर्मों में यह सलाह दी गयी है कि किसी व्यक्ति की मृत्यु के बाद कम-से-कम सात दिनों तक लोगों को एकत्र होना चाहिये और उसके विषय में सोचना चाहिये। क्योंकि जब तुम उसके विषय में प्रेम के साथ (बिना किसी आन्तरिक अशान्ति के, बिना रोये, उन विक्षुब्ध आवेगों में से किसी एक के भी बिना) सोचते हो, यदि तुम शान्त-स्थिर रहते हो तो तुम्हारा वातावरण उसके लिए एक प्रकार का आकाशदीप बन सकता है, और जब वह विरोधी शक्तियों के द्वारा आक्रान्त होती है (निस्सन्देह, हम यहाँ पर प्राण-सत्ता की बात कह रहे हैं, चैत्य-पुरुष की नहीं, वह तो विश्राम करने चला जाता है) तो अपने को एकदम खोया हुआ अनुभव करती है, नहीं जानती कि क्या करना चाहिये और अपने को महान् विपत्ति से घिरा अनुभव करती है; तब वह आन्तरिक सादृश्य के द्वारा उन लोगों के प्रकाश को देखती है जो प्रेम के साथ उसकी बात सोचते होते हैं और वहाँ दौड़ आती है। लगभग सर्वदा ही ऐसा घटित होता है कि मृत व्यक्ति की प्राणिक रचना, प्राण-सत्ता का एक भाग (अथवा कभी-कभी सम्पूर्ण प्राण, यदि वह सुसंगठित हो) उन लोगों या उस व्यक्ति के ज्योतिमण्डल में, वातावरण में शरण लेता है जो उसे प्यार किया करते थे। ऐसे लोग होते हैं जो सर्वदा अपने साथ उस व्यक्ति के प्राण का एक भाग वहन करते हैं जो मर चुका है। यही इन तथाकथित बाह्य अनुष्ठानों की यथार्थ उपयोगिता है, अन्यथा उनका कोई अर्थ नहीं।

परन्तु यह कहीं अच्छा है कि किसी अनुष्ठान के बिना इसे किया जाये। अनुष्ठान, उपयोगी होते हुए भी, अपेक्षाकृत हानिकारक ही होते हैं, उसका सीधा-सा कारण है : जब तुम किसी अनुष्ठान में व्यस्त रहते हो, तब उस व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक उस क्रिया के विषय में सोचते हो। जब तुम अनुष्ठान के कर्मकाण्ड के विधि-विधानों और मुद्राओं को करने में तल्लीन होते हो तब तुम मृत व्यक्ति के बारे में सोचने की अपेक्षा उन्हीं

सब बातों का चिन्तन करते हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. २४३-४४

सन्तप्त मत होओ, क्योंकि मृत्यु दूसरे देश में जाने का मार्ग मात्र है —जिस देश में सम्भवतः तुम सोते समय बहुधा जाते हो।

अर्थात्, जब तक तुम्हारे अन्दर आसक्ति है—तुम्हें इसे इसी रूप में देखना चाहिये। लेकिन अतीत के सभी बन्धनों पर तुम्हें विजय प्राप्त करनी ही चाहिये।

*

निस्सन्देह, यही वास्तविक तथ्य है—मृत्यु केवल शरीर का झड़ना है, वैयक्तिक अस्तित्व का अवसान नहीं। चूँकि मनुष्य दूसरे देश में चला गया है और वहाँ के मौसम के अनुसार उसने कपड़े बदल लिये हैं तो वह मृत्यु का ग्रास नहीं बन गया है।

CWSA खण्ड २८, पृ. ५२९

जो कुछ घटा है उसे स्थिर भाव से लो, अवश्यम्भावी जानो और जनम-जनम में प्रगति करती हुई आत्मा के लिए सर्वोत्तम समझो, यद्यपि मनुष्य की दृष्टि में वह सर्वोत्तम नहीं दिखायी देता जो सिर्फ वर्तमान को और बाहरी रूप को ही देखती है। आध्यात्मिक जिज्ञासु के लिए मृत्यु एक जन्म से दूसरे जन्म में जाने के लिए सिर्फ़ एक मार्ग है; कोई मरता नहीं, सिर्फ़ विदा लेता है। इस चीज़ को ऐसे देखो और प्राण के दुःख-शोक की सारी प्रतिक्रियाओं को झाड़ फेंको—वे उसकी यात्रा में सहायक नहीं होतीं। स्थिर-अडिग मन से भगवान् की ओर बढ़ो, उन्हीं के पथ पर चलो।

*

मृत्यु के बाद कुछ समय ऐसा होता है जब व्यक्ति प्राणिक जगत् से गुज़रता है और वहाँ कुछ देर टिकता है। इस यात्रा का पहला दौर ही कष्टदायक या भयावह हो सकता है; अगले दौर में, अमुक परिवेश में, वह अपनी उन अपूर्त प्राणिक कामनाओं और सहज वृत्तियों से निपटता है

जिन्हें शरीर में रहते हुए वह अपने अन्दर पाले हुए था। जैसे ही मनुष्य इनसे अघा कर परे जाने के योग्य हो जाता है, प्राणमय कोष झड़ जाता है और आत्मा मन के अवशेषों से छुटकारा पाने के लिए कुछ और समय लेकर चैत्य जगत् में विश्राम के लिए प्रयाण कर जाती है और धरती पर नवजीवन धारण करने तक वहीं वास करती है।

हम दिवंगत आत्माओं की मदद अपनी शुभेच्छाओं से या फिर, यदि ज्ञान हो तो, गुह्य तरीक़ों से कर सकते हैं। एक चीज़ जो हम सबको करनी चाहिये वह यह है कि हम उनके लिए शोक न करें, या अपनी चाहनाओं से या ऐसी किसी चीज़ से, जो उन्हें धरती की ओर आकर्षित करे, न खींचें या उन्हें उनके आरामगाह तक जाने में देर न पहुँचायें।

CWSA खण्ड २८, पृ. ५२९-३० —श्रीअरविन्द

शरीर छोड़ने के बाद जब तक चैत्य पुरुष अपने अस्थायी कोषों को उतार नहीं फेंकता तब तक वह अनेक स्थितियों और लोकों के बीच से गुज़रता हुआ यात्रा करता है। फिर यह चैत्य जगत् में पहुँचता है जहाँ अगला जन्म लेने की तैयारी तक एक तरह की निद्रा में आराम करता है। अन्त में मनुष्य-जीवन के अनुभवों का जितना अंश चैत्य अपने साथ रखता है वह उन सब अनुभवों का सार होता है और अगले विकास के लिए उपयोगी भी। प्रायः ऐसा ही होता है, लेकिन कुछ अपवाद भी हैं। यह नियम उन पर लागू नहीं होता जो सामान्य मानव स्तर से ऊपर उठ चुके हैं और एक महत्तर चेतना प्राप्त कर चुके हैं।

चैत्य पुरुष अवर योनि में नहीं आता, यह तो जन्म लेने वाले जीव का कोई भाग होता है, प्रायः प्राणिक भाग, जो किसी कामना, लगाव या कोई विशेष अनुभव लेने के लिए ऐसा करता है। ज़्यादातर सामान्य मनुष्य के साथ ऐसा ही घटता है।

—श्रीअरविन्द

मैं तुम्हारी पत्नी की दु:खद मृत्यु से पहुँचे आघात को समझ सकता हूँ। लेकिन अब तुम सत्य के जिज्ञासु और साधक हो, तुम्हें अब मन को साधारण व्यक्ति की प्रतिक्रियाओं से ऊपर उठने में लगाना चाहिये और चीज़ों को उच्चतर और महत्तर प्रकाश में देखना चाहिये। अपनी मृत पत्नी को वह आत्मा समझो जो अज्ञानपूर्ण जीवन के उतार-चढ़ावों से होकर प्रगति कर रही थी, जैसे अन्य सब यहाँ कर रहे हैं; उस प्रगति में कुछ ऐसी चीज़ें घट जाती हैं जो मनुष्य के मन को दुर्भाग्य प्रतीत होती हैं, और अचानक हुई कोई दुर्घटना या उग्र मृत्यु इस छोटे-से जीवन की अधखिली कली को असमय ही कुचल देती है जो उसके लिए और अधिक असह्य और दुर्भाग्यपूर्ण हो जाती है। लेकिन जो सतही दृष्टि के पीछे जा सकता है, वह जानता है कि आत्मा की प्रगति में जो कुछ घटता है उसका अनुभवों की उस शृंखला में कोई अर्थ है, प्रयोजन है, कोई स्थान है जो उसे उस मोड़ तक ले जा रही है जहाँ वह 'अज्ञान' से 'प्रकाश' की ओर जा सकता है। वह जानता है कि विधि के विधान में जो कुछ होता है, अच्छे के लिए होता है, भले ही मन को अन्यथा लगे। अपनी पत्नी को उस आत्मा के रूप में देखो जो जन्म-मरण की दो अवस्थाओं की सीमारेखा को पार कर गयी है। अपने विश्राम-स्थल तक जाने की उसकी अगली यात्रा में अपने शान्त विचारों से उसकी मदद करो और भागवत सहायता को उसकी मदद के लिए पुकारो। दीर्घकाल तक मनाया गया शोक दिवगंत आत्मा की यात्रा को सुगम नहीं करता बल्कि धीमी कर देता है। अपनी क्षति के बारे में ही न सोचते रहो, बल्कि सिर्फ़ उसके आध्यात्मिक मंगल की कामना करो।

CWSA खण्ड २८, पृ. ५२८ —*श्रीअरविन्द*

मृत्यु के बाद जो होता है

शरीर एक दुर्ग और आश्रय है

मनुष्य तो स्थूल शरीर में ही अपने घर की तरह सुरक्षित रहता है; शरीर उसका रक्षा-कवच है। कुछ लोग ऐसे हैं जो अपने शरीर के लिए तिरस्कार से भरे होते हैं और समझते हैं कि मृत्यु के बाद जब स्थूल शरीर नहीं रह जायेगा तब उनकी दशा बहुत कुछ सरल हो जायेगी, सुधर जायेगी। परन्तु, वास्तव में, स्थूल शरीर तुम्हारा क़िला और तुम्हारी आश्रय-स्थली है। जब तक तुम इस क़िले के अन्दर हो तब तक विरोधी जगत् की शक्तियों को तुम्हारे ऊपर किसी तरह का सीधा क़ब्ज़ा करने में कठिनाई होती है। दुःस्वप्न क्या हैं? ये हैं प्राणमय जगत् में तुम्हारे भ्रमण। और किसी दुःस्वप्न की पकड़ में आते ही सबसे पहले तुम क्या करने की कोशिश करते हो? तुम अपने स्थूल शरीर में दौड़ जाते हो और अपनी साधारण भौतिक चेतना में आकर होश सम्भालते हो। परन्तु प्राणमय शक्तियों के जगत् में तुम एक अजनबी हो; यह एक मानचित्र-विहीन समुद्र है और तुम्हारे पास न तो दिग्दर्शक यन्त्र है, न पतवार। तुम नहीं जानते कि इनमें कैसे चलना चाहिये, न यह जानते हो कि किधर चलना चाहिये और पग-पग पर वही करते हो जो नहीं करना चाहिये। जैसे ही तुम इस जगत् के किसी भी राज्य में प्रवेश करते हो वैसे ही वहाँ की सत्ताएँ तुम्हारे चारों ओर जमा हो जाती हैं और तुम्हें घेर कर जो कुछ तुम्हारे पास हो उसे हथिया लेना, जो कुछ चूस सकें उसे चूस लेना और तुम्हारी सम्पत्ति को अपना आहार और शिकार बना लेना चाहती हैं। यदि तुम्हारे अन्दर से कोई तीव्र ज्योति और शक्ति प्रसारित न हो रही हो तो स्थूल शरीर के बिना तुम इस जगत् में इस तरह फिरते रहोगे मानों अत्यन्त सर्द और ठिठुरा देने वाले वातावरण से अपने को बचाने के लिए तुम्हारे पास एक कोट भी नहीं, एक मकान तक नहीं जो तुम्हें आश्रय दे सके, यहाँ तक कि तुम्हें ढाँकने के लिए त्वचा तक न हो, तुम्हारी स्नायुएँ खुली हुई और एकदम नग्न हों। कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जो कहते हैं : "मैं इस शरीर में कितना दुःखी हूँ," और वे मृत्यु को दुःख से छुटकारा पाने का साधन मानते हैं! किन्तु मृत्यु के बाद तुम्हें वे ही प्राणमयी परिस्थितियाँ मिलती हैं और उन्हीं शक्तियों का ख़तरा रहता है

जिनके कारण तुम इस जीवन में क्लेश पाते थे। स्थूल शरीर का विघटन तुम्हें प्राणमय जगत् के खुले मैदान में जाने के लिए बाध्य कर देता है और तुम्हारे पास अपनी रक्षा के लिए कोई साधन नहीं रहता, स्थूल शरीर अब नहीं रहता कि तुम सुरक्षा के लिए उसमें दौड़ जाओ।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ५४-५५

मृत्यु का क्षेत्र

सामान्यतया, "मृत्यु का क्षेत्र" नाम अत्यधिक स्थूल प्राणिक जगत् के एक क्षेत्र को दिया जाता है, उस जगत् को जिसमें व्यक्ति शरीर छोड़ने के बाद प्रवेश करता है। उसके जीवन का वह भाग—इसे कैसे कहा जाये? —जो कि साधारणतया सबसे अधिक सचेतन होता है, मृत्यु के समय उस क्षेत्र में प्रक्षिप्त किया जाता है। हाँ, तो वह क्षेत्र, वह स्थूल प्राणिक जगत् बड़ा अन्धकारमय होता है, वह उन विरोधी रचनाओं से भरपूर होता है जिनके केन्द्र में कामनाएँ, बल्कि विरोधी संकल्प-शक्तियाँ भी रहती हैं; ये ऐसी बहुत, बहुत ही प्रारम्भिक सत्ताएँ होती हैं जिनका जीवन बड़ा ही खण्डित होता है, बल्कि वे खून चूसने वाले भूत-प्रेत जैसे होते हैं जो मानवीय सत्ताओं में से फेंके गये टुकड़ों पर निर्वाह करते हैं। अतएव, उस समय, मृत्यु के आघात के समय—ऐसे बहुत कम लोग हैं जो बिना आघात पाये मर जाते हैं, अर्थात्, मृत्यु-सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान के साथ, सचेतन रूप में शरीर से बाहर जाते हैं, ऐसे लोग अधिक नहीं हैं—सामान्यतया वह एक दुर्घटना होती है : अन्तिम दुर्घटना; हाँ तो, मृत्यु के उस आघात के समय वे सत्ताएँ वहाँ, उस प्राणिक सत्ता पर, जो बाहर चली जाती है, लपक पड़ती हैं और उसे अपना आहार बना लेती हैं। जब तक व्यक्ति जीवित रहता है, वे उसका स्पर्श नहीं कर सकतीं। तुम सबको ऐसे दुःस्वप्न का अनुभव होगा जिसमें स्थिति के सचमुच संकटपूर्ण होने पर तुम अचानक जाग उठते हो—तुम अपने शरीर में लौट आते हो, क्योंकि शरीर तुम्हारा सुरक्षा-कवच है। शरीर में वे तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं किन्तु जब तुम शरीर से पूर्णतया बाहर होते हो (यह कड़ी, जिसके बारे में मैंने तुम्हें बताया था, तुम्हारे शरीर से बाहर चले जाने पर तुम्हारी कुछ हद तक रक्षा करती है), यदि ये कड़ियाँ टूट जायें और तुम बिलकुल बिना शरीर के

हो जाओ, तो ऐसा ही होगा, जब तक कि तुम किन्हीं विशेष परिस्थितियों से फ़ायदा न उठा सको... उदाहरणार्थ, यदि मृत व्यक्ति पर उसके प्रिय सम्बन्धी, जो उसे बहुत प्यार करते हैं, अपने प्रेमपूर्ण विचार केन्द्रित और एकाग्र करें, तो उसे वहाँ आश्रय मिल जाता है, और फिर यह बात उसे उन सत्ताओं के विरुद्ध पूर्ण सुरक्षा प्रदान करती है; किन्तु यदि मृत व्यक्ति का ऐसा सम्बन्धी न हो जिसे उसके लिए विशेष मोह हो, और वह उस समय उन व्यक्तियों से घिरा हो जिन्हें उसने नुकसान पहुँचाया है और जो उसे प्यार नहीं करते अथवा जो बहुत अधिक अचेतन हों—तो वह ऐसी शक्तियों का शिकारमात्र रह जाता है। ओह, यह एक ऐसा अनुभव है जिसे सह पाना बहुत अधिक कठिन होता है।...

यह तो एक सामान्य नियम है। पर वहाँ कई सेतु, "सुरक्षित मार्ग" भी होते हैं जिनका निर्माण प्राणिक जगत् में इसलिए हुआ है कि इन पर से होकर व्यक्ति इन सब संकटों से पार हो सके। कुछ ऐसे वातावरण होते हैं जो उन लोगों को, जो अपना शरीर छोड़ रहे होते हैं, आश्रय और संरक्षण देते हैं। वहाँ सभी प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं; जो मैंने तुम्हें अभी बतायी है वह मृत व्यक्ति की, सर्वसाधारण मनुष्य की सामान्य अवस्था है, किन्तु यदि हम ज़रा अधिक उच्च प्रकार की मानवता को लें, तो ये सब अवस्थाएँ बदल जाती हैं। सामान्य नियम तब तक बना रहता है जब तक कि सत्ता के अन्दर एक विशेष प्रकार का उच्चतर विकास साधित न हो जाये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ६३-६५

मृत्यु के बाद हमारी सत्ता की अवस्था

मृत्यु के बाद तुम्हारी सत्ता की दशा बहुत कुछ इस पर निर्भर करती है कि तुम्हारे प्राण का परिवर्तन हुआ है या नहीं। अगर तुम अव्यवस्थित आवेगों की खिचड़ी-भर रहो तो मृत्यु के समय, जब चेतना पृष्ठभूमि में हट जाती है, तुम्हारे विभिन्न व्यक्तित्व अलग-अलग हो जाते हैं और अपने-अपने अनुकूल वातावरण की तलाश में इधर-उधर दौड़-भाग करते हैं। एक भाग किसी ऐसे व्यक्ति में प्रवेश कर सकता है जिसके साथ उसकी समानता है, दूसरा किसी पशु तक में प्रवेश कर सकता है और जो भाग भागवत सत्ता की ओर जाग्रत् रहा है वह केन्द्रीय चैत्य सत्ता के साथ जुड़ा

रह सकता है। लेकिन अगर तुम पूरी तरह संगठित हो और एक व्यक्तित्व में बदल चुके हो और विकास के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कटिबद्ध हो तो तुम मृत्यु के बाद सचेतन रहोगे और एक सातत्य बनाये रखोगे।...

तुम यह जानना चाहते हो कि क्या सभी मनुष्य शरीर के विलय के बाद अपनी विशिष्टता बनाये रखते हैं? हाँ, यह कई बातों पर निर्भर करता है। साधारण लोग अपने शरीर के साथ इतने अधिक जुड़े होते हैं कि शरीर के विघटन के बाद उनमें कुछ नहीं बचता। ठीक ऐसी बात नहीं है कि उनमें से कुछ नहीं बचता—प्राण और मन का तत्त्व हमेशा बचा रहता है—लेकिन वह भौतिक व्यक्तित्व के साथ एकात्म नहीं होता। जो बच रहता है उस पर बाहरी व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप नहीं होती, क्योंकि भौतिक व्यक्तित्व आवेगों, इच्छाओं और शारीरिक कार्य-कलाप के सम्बन्ध और सहयोग से बने अस्थायी घालमेल से ही सन्तुष्ट रहता है और शरीर के कार्य-कलाप के बन्द होने के साथ ही स्वाभाविक रूप से यह ऊपरी एकता भी समाप्त हो जाती है। हाँ, यदि विभिन्न भागों पर मानसिक संयम रहा हो और उन्हें किसी समान मानसिक आदर्श के अधीन रखा गया हो तो एक प्रकार का सच्चा व्यक्तित्व बना रह सकता है जिसमें पार्थिव जीवन की स्मृति सचेतन रूप से बनी रह सकती है। कहा जा सकता है कि कलाकार, दार्शनिक तथा अन्य विकसित लोग, जो अपने प्राण को एक हद तक परिवर्तित कर लेते हैं और अपने व्यक्तित्व को संगठित बना लेते हैं, वे बचे रहते हैं, क्योंकि वे अपनी बाहरी चेतना में अपनी चैत्य सत्ता की कुछ छाया ले आते हैं। चैत्य सत्ता स्वभाव से ही अमर है और उसका लक्ष्य है, क्रमशः सारी सत्ता का, केन्द्रीय 'भागवत संकल्प' के चारों ओर निर्माण करना।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १५८-६०

मृत्यु के बाद प्राणिक सत्ता का जो होता है

मृत्यु के बाद प्राणिक सत्ता का क्या होता है?

वह विघटित हो जाती है। विरल मामलों में इससे भिन्न कुछ होता है। परन्तु तुम्हारे अन्दर यदि कोई बहुत प्रबल आवेश हो, यदि तुम प्रबल प्रवृत्तियों के द्वारा विभक्त हो तो प्राण-सत्ता छोटे-छोटे टुकड़ों में भंग हो जाती है।

वह भाप या तरल पदार्थ की तरह प्रयाण करने के बदले छोटे-छोटे टुकड़ों में प्रयाण करती है। प्राणिक उपादान के इन छोटे-छोटे टुकड़ों में से प्रत्येक टुकड़ा अपनी केन्द्रीय प्रवृत्ति, केन्द्रीय कामना, केन्द्रीय आवेश के इर्द-गिर्द एकत्रित हो जाता है और इस तरह छोटी-छोटी सत्ताओं का निर्माण करता है जिनका मनुष्य-जैसा शरीर नहीं होता पर जो कभी-कभी कोई अस्पष्ट रूप ले लेती हैं; कभी-कभी वे रूप उस शरीर के समान होते हैं जिससे वे टुकड़े सम्बन्धित थे, दूसरे समय वे उस कामना को प्रकट करने वाले आकार ले लेते हैं जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं। और स्वभावतः ही उनका सारा सरोकार इस बात से होता है कि वे अपनी कामना या आवेश को सन्तुष्ट करें और वे सर्वत्र अपनी आत्मतुष्टि के साधनों की खोज करते रहते हैं।

उदाहरण के लिए, अपने धन के लिए एक कंजूस के आवेग को लो। वह मरता है। उसकी प्राण-सत्ता विघटित हो जाती है, पर धन के लिए उसका अनुराग जीवित रहता है। वह अपने चारों ओर कुछ तत्त्वों को एकत्र करता है ताकि प्राण-जगत् में वह एक जीवन्त और सचेतन सत्ता को आकार प्रदान करे। यदि इस मनुष्य ने अपने जीवन-काल में कहीं कोई ख़ज़ाना छिपा रखा हो तो यह सत्ता वहाँ जाती है और जिस स्थान पर ख़ज़ाना छिपा होता है ठीक उसके ऊपर, मानों उसकी रक्षा करने के लिए, और उसके पास लोगों का आना बन्द करने के लिए, वहाँ जम जाती है।...

फिर बहुत सारी छोटी-छोटी सत्ताएँ भी हैं जो बिलकुल घिनौनी और बहुत बड़ी संख्या में होती हैं और घृणित काम-वासना से उत्पन्न होती हैं। यदि यह वासना (अपनी जैसी सत्ताओं के साथ) मृत्यु के समय विघटित नहीं हो जाती तो ये सत्ताएँ बनी रहती हैं और संवेदनशील व्यक्तियों के वातावरण में आकर उन्हें उकसाने और उत्तेजित करने के लिए जम कर बैठ जाती हैं। ये सत्ताएँ काम-क्रिया के समय उद्‌भूत प्राण-शक्ति पर पलती हैं और स्वभावतः ही, उनकी एकमात्र कामना होती है कि जितना अधिक पोषण प्राप्त करना सम्भव हो उतना प्राप्त कर लेना। मैंने ऐसे लोगों को देखा है जिन्हें ऐसी दर्जनों सत्ताओं ने घेर रखा था। यह बहुत ही स्पष्ट है...।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. २२७-२९

अपवादिक मामले

यदि किसी ने सारे जीवन योग का अभ्यास किया हो, चैत्य पुरुष के चारों ओर प्राणिक और मानसिक सत्ताओं को व्यक्तिभावापन्न बनाने, केन्द्रीभूत करने का बहुत यत्न किया हो, केवल तभी वे बनी रहती हैं—ऐसा करोड़ों लोगों में से एक व्यक्ति में घटित होता है, यह बहुत असाधारण बात है। एक दार्शनिक या लेखक का उदाहरण ले लो जिसने अपने मस्तिष्क से बहुत अधिक काम किया हो, उसे संगठित करने का प्रयास किया हो; तब वह बना रहता है, परन्तु *विचार करने की एक क्षमता* के रूप में, अन्य किसी रूप में नहीं। विचार करने की ये ही क्षमताएँ मृत्यु के बाद बनी रहती हैं। और वे स्वभावतः ही अभिव्यक्त होने के लिए दूसरा भौतिक मस्तिष्क पाने का प्रयत्न करती हैं। बस, इसी रूप में किसी महान् चिन्तक का मन दूसरे मन के साथ एकात्म हो सकता और स्वयं को अभिव्यक्त करने में समर्थ हो सकता है।

प्राणिक दृष्टिकोण से, किसी महान् संगीतज्ञ का उदाहरण लो जिसने सारे जीवन अपनी बाहरी सत्ता को संगीत का एक सुन्दर यन्त्र बनाने के लिए कार्य किया हो; उसने अपने शरीर की इस प्राणिक शक्ति को बाजा बजाने के लिए सुसंगठित किया हो; हाँ तो, उसके हाथ, उदाहरणार्थ बाजा बजाने की अपनी क्षमता में इतने व्यष्टिभावापन्न हो जाते हैं कि वे मृत्यु के बाद भी अपने आकार के साथ, पुराने भौतिक आकार के सदृश आकार में सूक्ष्म रूप में बने रह सकते हैं। वे प्राणिक जगत् में तैरते रहते हैं और उन लोगों द्वारा आकर्षित होते हैं जिनमें वैसी ही क्षमताएँ होती हैं; वे उनके साथ तद्रूप होने का प्रयत्न करते हैं। जो व्यक्ति पर्याप्त रूप में संवेदनशील, पर्याप्त रूप में ग्रहणशील होता है वह उन हाथों के साथ तद्रूप बन सकता और आश्चर्यजनक चीज़ें सम्पन्न कर सकता है; उन हाथों के विगत जीवन में व्यष्टिभावापन्न होने का सम्पूर्ण लाभ उठा सकता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. २३३

प्रत्येक भाग अपने लोक में चला जाता है

मान लो कि तुम इच्छा और आवेग-प्रवेग का जीवन जी रहे हो, तो तुम्हारे जीवन में प्राणिक सत्ता प्रधान है; लेकिन अगर तुम आध्यात्मिक

प्रयास के साथ, बड़ी सद्भावना के साथ, चीज़ों को अच्छी तरह, निस्स्वार्थ भाव से करने की इच्छा से जीते हो, तुम्हारे अन्दर प्रगति का संकल्प है तो तुम्हारे अन्दर चैत्य सत्ता प्रधान है। तब, जब तुम शरीर छोड़ने को होते हो तो ये सब चीज़ें अलग होना शुरू करती हैं। अगर तुम काफ़ी आगे बढ़े हुए योगी हो और अपनी सत्ता को भागवत केन्द्र के चारों ओर एकत्र कर सके हो, तभी ये सत्ताएँ आपस में बँधी रह सकती हैं। अगर तुमने यह नहीं जाना कि अपने-आपको एक कैसे किया जाये तो मृत्यु के समय सब बिखर जायेंगी, हर एक अपने-अपने क्षेत्र में वापिस चली जायेगी। उदाहरण के लिए, प्राण पुरुष को लो, तुम्हारी सभी भिन्न-भिन्न इच्छाएँ अलग-अलग हो जायेंगी और प्रत्येक अपने-आपको चरितार्थ करने के लिए बिलकुल स्वतन्त्र रूप से दौड़ पड़ेगी, क्योंकि तब भौतिक सत्ता न होगी जो उन्हें एक साथ रख सके। लेकिन अगर तुमने अपनी चेतना को चैत्य चेतना के साथ एक कर लिया है तो जब तुम शरीर छोड़ते हो तो तुम अपने चैत्य के बारे में सचेतन रहते हो और तुम्हारी चैत्य सत्ता चैत्य लोक में लौट जाती है, जो आनन्द और उल्लास का, शान्ति और प्रशान्ति का, बढ़ते हुए ज्ञान का लोक है। इसलिए, अगर तुम उसे स्वर्ग कहना चाहो तो ठीक है; क्योंकि वास्तव में, जिस हद तक तुम अपने चैत्य पुरुष के साथ तदात्म होते हो उसी हद तक तुम उसके बारे में सचेतन रहते हो, उसके साथ एक होते हो, और वह अमर है और पूर्णतः सुखी जीवन या विश्राम के लिए अपने अमर धाम में चला जाता है। अगर तुम उसे स्वर्ग कहना चाहो तो स्वर्ग कह लो। अगर तुम अच्छे हो, अगर तुम अपने चैत्य पुरुष के बारे में सचेतन हो और उसकी चेतना में निवास करते हो, तो, जब तुम्हारा शरीर मरता है तो तुम अपने चैत्य पुरुष के साथ एक आनन्दमयी अवस्था में, चैत्य जगत् में विश्राम करने के लिए चले जाओगे।

लेकिन अगर तुमने अपने प्राण में उसके सारे आवेगों के साथ निवास किया है तो हर आवेग अपने-आपको यहाँ-वहाँ चरितार्थ करने की कोशिश करेगा—उदाहरण के लिए, जब कोई कंजूस, जो अपने धन को इकट्ठा करने में लगा रहता है, मरता है तो उसका जो भाग धन से आसक्त था, वहीं फँसा रहेगा और उस पर निगरानी करता रहेगा ताकि कोई उसे ले न पाये। लोग उसे नहीं देखते, लेकिन वह मौजूद रहता है और अगर उसके

मूल्यवान् धन को कुछ हो जाये तो बहुत दुःखी होता है। मैं एक स्त्री से अच्छी तरह परिचित थी जिसके पास काफ़ी पैसा और बच्चे थे। उसके पाँच बच्चे थे जिनमें से हर एक दूसरे से ज़्यादा फ़िज़ूलखर्च था। उसने धन जुटाने में जितना कष्ट उठाया था, उतनी ही लापरवाही से वे उसे इधर-उधर उड़ाने में लगे थे। इसलिए, जब उस बेचारी स्त्री का देहान्त हुआ तो वह मेरे पास आयी और मुझसे बोली: "हाय! अब ये लोग मेरे धन को उड़ा देंगे!" और वह बहुत दुःखी थी। मैंने उसे कुछ दिलासा दिया, लेकिन धन को उड़ाये जाने से बचाने के लिए उसकी निगरानी करते रहने से उसे रोकने में मुझे बहुत कठिनाई हुई।

अगर तुम पूरी तरह अपनी भौतिक चेतना में ही रहते हो (यह कठिन है, क्योंकि आख़िर तुम्हारे अन्दर भावनाएँ और विचार तो हैं ही), लेकिन अगर तुम शुद्ध रूप से भौतिक चेतना में रहते हो तो जब भौतिक शरीर ग़ायब होता है तो उसके साथ ही तुम भी ग़ायब हो जाते हो, यह समाप्त हो जाता है...। आकार की एक आत्मा होती है: तुम्हारे आकार की एक आत्मा होती है जो तुम्हारी मृत्यु के बाद सात दिन बनी रहती है। डॉक्टरों ने घोषणा कर दी कि तुम मर गये, लेकिन तुम्हारे आकार की आत्मा ज़िन्दा रहती है, केवल ज़िन्दा ही नहीं रहती, अधिकतर उदाहरणों में सचेतन रहती है। लेकिन वह सात-आठ दिन रहती है और फिर विलीन हो जाती है। मैं योगियों की बात नहीं कर रही, साधारण लोगों की बात कर रही हूँ। योगियों के लिए कोई नियम नहीं होते। उनकी बात ही अलग है; उनके लिए जगत् निराला होता है। मैं तुमसे साधारण लोगों की बात कर रही हूँ जो साधारण जीवन बिताते हैं। इनके लिए ऐसा ही होता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. १४७-४८

मृत्यु के बाद जादूगरों और गुह्यवादियों की अवस्था

मधुर माँ, मैंने सुना है कि जो जादूगर अपने काम के लिए गुह्य शक्तियों का प्रयोग करते हैं उन्हें मृत्यु के बाद बहुत कष्ट होता है। क्या यह सच है?

मुझे पता नहीं कि वे मृत्यु के बाद कष्ट पाते हैं या अपनी चेतना खो

देते हैं, पर बहरहाल, स्पष्ट रूप से यह तो बिलकुल निश्चित है कि वे शान्ति या सुख की अवस्था में नहीं होते। क्योंकि आध्यात्मिक दृष्टि से यह निरपेक्ष नियम है : आन्तरिक अनुशासन और भगवान् के प्रति समर्पण से तुम्हें शक्तियाँ मिलती हैं। लेकिन तुम्हारी अभीप्सा, तुम्हारे अनुशासन और समर्पण में यदि महत्त्वाकांक्षा मिली हुई है, यानी, शक्ति पाने का इरादा है, तो अगर शक्तियाँ तुम्हारे पास आ भी जायें तो यह प्रायः एक अभिशाप के जैसा होगा। सामान्यतः वे तुम्हारे पास नहीं आतीं, तुम्हारे पास कोई ऐसी प्राणिक चीज़ आती है जो उनकी नक़ल करने की कोशिश करती है, उसके साथ ऐसे विरोधी प्रभाव होते हैं जो तुम्हें पूरी तरह ऐसी सत्ताओं के अधिकार में रख देते हैं जो तुम्हें केवल इस इरादे से शक्तियाँ देती हैं कि वे तुम्हारा उपयोग करेंगी, वे जिन-जिन कामों को करने का इरादा रखती हैं, जो-जो उपद्रव पैदा करना चाहती हैं उन सबमें तुम्हारा उपयोग करेंगी। और जब उन्हें पता लगेगा कि तुम उनकी काफ़ी सेवा कर चुके और अब किसी काम के नहीं रहे, तो वे बस, तुम्हें नष्ट कर देती हैं। हो सकता है कि वे तुम्हें शारीरिक रूप से नष्ट न कर सकें क्योंकि उनमें हमेशा यह करने की शक्ति नहीं होती, लेकिन वे तुम्हें मानसिक रूप से, प्राणिक रूप से और चेतना में बिलकुल नष्ट कर देती हैं, और उसके बाद तुम, मरने से पहले भी, किसी काम के नहीं रहते। और मौत के बाद, चूँकि तुम पूरी तरह उनके प्रभावों में रहते हो, वे सबसे पहले तुम्हें निगल लेती हैं, क्योंकि लोगों का उपयोग करने का उनका यही तरीक़ा है—उन्हें निगल जाना। तो यह बहुत सुखद अनुभूति नहीं हो सकती। यह बहुत, बहुत, बहुत ख़तरनाक खेल है।

लेकिन हर जगह, सभी शिक्षाओं में, सभी साधनाओं में, सभी युगों में यह बात दोहरायी गयी है : तुम्हें साधना के साथ महत्त्वाकांक्षा और निजी स्वार्थ को कभी न मिलाना चाहिये, अन्यथा यह मुसीबत को बुलाना होगा। तो यह किसी विशेष मामले की ही बात नहीं है, इस तरह के सभी मामलों में यही बात है, उनके घातक परिणाम होते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. २९०-९२

स्वर्ग और नरक

स्वर्ग और नरक एक ही साथ सत्य और मिथ्या दोनों हैं। उनका अस्तित्व है भी और नहीं भी।

मानव विचार सर्जनकारी है। वह मानसिक और प्राणिक तत्त्व को, बल्कि सूक्ष्म भौतिक तत्त्व को भी थोड़े-बहुत स्थायी आकार प्रदान करता है। ये आकार वास्तविक की अपेक्षा ज़्यादा छाया-रूप में होते हैं, किन्तु उन लोगों के लिए जो इनके बारे में सोचते हैं और उनके लिए तो और भी अधिक जो उन पर विश्वास करते हैं, इनका अस्तित्व इतना मूर्त होता है कि उन्हें इनके सच्चे होने की भ्रान्ति हो जाती है। जिन धर्मों में नरक और स्वर्ग का या विभिन्न प्रकार के स्वर्गों का अस्तित्व माना जाता है उनके अनुयायियों के लिए ये चीज़ें बाह्य रूप में भी अपना अस्तित्व रखती हैं और अपनी मृत्यु के बाद वे थोड़े-बहुत लम्बे समय के लिए वहाँ जा भी सकते हैं। किन्तु ये केवल अस्थायी मानसिक रचनाएँ होती हैं, इनमें सनातन सत्य नहीं होता।

मैंने उन स्वर्गों और नरकों को देखा है जहाँ लोग मृत्यु के बाद जाते हैं और उन्हें यह समझाना बड़ा कठिन होता है कि इनमें कोई सच्चाई नहीं है। एक बार मुझे किसी को यह विश्वास दिलाने में कि उसका तथाकथित नरक नरक नहीं है और उसे उसमें से निकालने में एक वर्ष से भी अधिक लग गया था।...

जैसे तुम अपने अन्दर भगवान् के साथ एक आनन्दपूर्ण सम्बन्ध का स्वर्ग स्थापित कर लेते हो, उसी प्रकार, यदि तुम अपनी प्रकृति में आसुरिक प्रवृत्तियों को वश में करने की सावधानी न बरतो तो अपनी चेतना में दुःख और विध्वंस का नरक लिये फिरोगे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. ७३

स्वर्ग तथा शोधन-स्थान

(एक बालक) मृत्यु के बाद लोग प्राणमय लोक में प्रवेश करते हैं, लेकिन जो अच्छे काम करते हैं वे स्वर्ग जाते हैं?

... साधारणतः, लोगों को अच्छे काम करने हेतु प्रोत्साहित करने के

लिए धार्मिक पण्डित ये बातें कहते हैं। क्योंकि यह तो जानी हुई कुख्यात बात है कि जीवन बुरों की अपेक्षा भलों के लिए ज़्यादा सरल नहीं होता। साधारणतः बात उलटी होती है। भलों की अपेक्षा बुरे ज़्यादा सफल होते हैं! इसलिए जो लोग बहुत आध्यात्मिक नहीं हैं वे अपने-आपसे कहते हैं: "मैं अच्छा बनने का कष्ट क्यों करूँ? बुरा होना और आराम का जीवन बिताना ज़्यादा अच्छा है।" उन्हें यह समझाना मुश्किल होता है कि "भले" के बहुत प्रकार होते हैं और कभी शायद भला होना तकलीफ़ उठाने-योग्य होता है। इसलिए कम-से-कम बुद्धिवाले को भी समझाने के लिए यह कहा जाता है: "चीज़ बहुत सीधी-सादी है। अगर तुम आज्ञाकारी, बहुत अच्छे, बिलकुल निस्स्वार्थ रहो, अगर हमेशा अच्छे काम करो, अगर हमारे सिखाये हुए सिद्धान्तों को मानो, तो, जब तुम मरोगे तो भगवान् तुम्हें स्वर्ग भेजेंगे। अगर तुम्हारे अन्दर कभी सद्भावना रहती है, कभी दुर्भावना, अगर तुम कभी-कभी अच्छे काम करते हो, कभी-कभी नहीं करते और अगर तुम अपने बारे में बहुत अधिक सोचते हो और दूसरों के बारे में बहुत कम, तो जब तुम मरोगे तो तुम्हें एक और अनुभव के लिए पापमोचन-स्थान पर भेजा जायेगा। और फिर अगर तुम पूरी तरह दुष्ट हो, अगर तुम हमेशा दूसरों का बुरा करते रहते हो, हर तरह की बुरी चीज़ें करते हो और किसी अन्य के भले के बारे में नहीं सोचते और, विशेष रूप से, अगर तुम हमारे सिखाये हुए धर्म-सिद्धान्त पर विश्वास नहीं करते, तो तुम हमेशा के लिए सीधे 'नरक' में चले जाओगे।"

मैंने जिन अविष्कारों के बारे में सुना है यह उनमें सबसे सुन्दर आविष्कारों में से एक है। उन्होंने **शाश्वत नरक** का आविष्कार किया है। मतलब यह कि एक बार तुम नरक में पहुँच जाओ, तो बस, हमेशा वहीं रहोगे।...

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. १४२-४४

मृत्यु है, बस, अपना परिधान बदल कर,
विवाह का जोड़ा धारण कर, शाश्वत के द्वारे प्रतीक्षा करना।

CWSA खण्ड २, पृ. २१९ —*श्रीअरविन्द*

मृत्यु के बाद भी जो बना रहता है

मृत्यु के बाद चैत्य सत्ता बनी रहती है

चैत्य पुरुष वह है जो मृत्यु के बाद भी बना रहता है, क्योंकि यह तुम्हारा शाश्वत व्यक्तित्व है और यही चेतना को जन्म-जन्मान्तर में आगे बढ़ाता रहता है।

चैत्य पुरुष तुम्हारे अन्दर स्थित सच्चे और भागवत व्यक्ति का वास्तविक व्यक्तित्व है। कारण, तुम्हारे व्यक्तित्व का अर्थ है तुम्हारी अभिव्यक्ति का एक विशेष प्रकार, और तुम्हारा चैत्य पुरुष उस 'भागवत चेतना' का, जिसने तुम्हारे अन्दर रूप ग्रहण किया है, एक विशेष पहलू है। परन्तु व्यष्टि-चेतना और विश्व-चेतना के बीच जो भेद-भाव तुम्हारी प्रकृति के अन्य भागों में है वह चैत्य पुरुष की चेतना में नहीं है। वहाँ तुम्हें इस बात का ज्ञान रहता है कि तुम्हारा व्यक्तित्व तुम्हारी अभिव्यक्ति का विशिष्ट प्रकार है, पर साथ-ही-साथ तुम यह भी जानते हो कि वह अखण्ड विश्व-चेतना की ही बहिर्गत अभिव्यक्ति है। यह ऐसा है मानों तुमने अपने एक अंग को अपने-आपमें से निकाल कर बाहर अपने सामने रख लिया हो और अब दोनों आपस में एक-दूसरे को देख रहे हों और दोनों के बीच क्रियाओं की लीला हो रही हो। अपने बहिर्गत रूप के साथ सम्बन्ध बनाने और स्थापित करने और उसे भोग सकने के लिए यह द्वैत भाव ज़रूरी था। परन्तु चैत्य-चेतना में यह भेद-भाव, जो द्वैत-भाव को तीव्र करता है, केवल एक भ्रम, एक आभासमात्र अनुभव होता है, इससे अधिक कुछ नहीं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ७२

केन्द्रीय सत्ता तथा चैत्य सत्ता

हमने कहा था कि केन्द्रीय सत्ता और चैत्य सत्ता एक ही हैं, लेकिन जो भाग भगवान् में निवास करता है और उनके अन्दर है, वह उन्हीं के अन्दर निवास करता और उन्हीं में है। पार्थिव जीवन में, पृथ्वी पर विकास के लिए चैत्य भगवान् का प्रतिनिधि है। लेकिन केन्द्रीय सत्ता का वह भाग जो भगवान् के साथ अभिन्न है, वह भगवान् के साथ अभिन्न ही बना रहता है, उसमें परिवर्तन नहीं होता। जीवन-काल में भी वह भगवान् के साथ एक

होता है, और मृत्यु के बाद भी वह वही बना रहता है जो जीवन-काल में था, उसके लिए इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। वह तो चैत्य सत्ता में बारी-बारी से अनुभूति और आत्मसात्करण, अनुभूति और आत्मसात्करण होता रहता है। लेकिन जीवात्मा भगवान् में है और भगवान् में ही बनी रहती है, और वहाँ से हिलती तक नहीं; और वह प्रगतिशील नहीं है। वह भगवान् में है, वह भगवान् के साथ अभिन्न है, वह भगवान् के साथ अभिन्न बनी रहती है, अलग नहीं होती। उसके लिए इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि भौतिक शरीर है या नहीं।

तो, मधुर माँ, क्या हर एक की केन्द्रीय सत्ता एक-सी ही है?

नहीं, हमें बताया गया है कि वह बहुलता में अभिन्न है। वह हर एक सत्ता का शाश्वत सत्य है। एक दृष्टिकोण से वे अभिन्न हैं, एक और से विभिन्न हैं; क्योंकि प्रत्येक सत्ता का सत्य व्यक्तिगत सत्य है, परन्तु वह भगवान् के साथ अभिन्न है। वह अभिव्यक्ति से परे है पर वही अभिव्यक्ति का मूल है। वह ऐसी एकता है जो एकरूपता नहीं है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. २४९-५०

सुविकसित चैत्य सत्ता का प्रयाण

यदि हम एक सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्त, किसी ऐसे व्यक्ति का दृष्टान्त लें जिसने अपने अन्दर की भागवत 'उपस्थिति' के चारों ओर अपनी सत्ता का पूरी तरह से एकीकरण कर लिया है, जिसमें अब **एक** ही संकल्प-शक्ति, **एक** ही चेतना है, ऐसा व्यक्ति अपनी केन्द्रीय चैत्य सत्ता के चारों ओर एक पूर्णतया विकसित और व्यवस्थित मन को, एक समग्र रूप से समर्पित और सहयोगी प्राण को और एक आज्ञाकारी, विनम्र और नमनीय शरीर को संगठित कर सकेगा। उस पूर्ण विकसित भौतिक सत्ता का एक सूक्ष्म शरीर भी होगा—जिसे श्रीअरविन्द "सच्ची भौतिक सत्ता" कहते हैं —जो अपने शरीर की सीमाओं का अनन्ततः अतिक्रमण कर जायेगा और जिसमें एक प्रकार की पर्याप्त कोमलता, नमनीयता और समतोलता होगी; ये गुण इसे सत्ता के आन्तरिक भागों के साथ निकट सम्बन्ध बनाये रखने

तथा उसकी अन्तरस्थ अन्तरात्मा की क्रिया का अनुसरण करने की शक्ति देंगे... मैं यह नहीं कहना चाहती कि वह आरोहण-शक्ति होगी, वे उसे शरीर से बाहर अन्तरात्मा की यात्राओं का अनुसरण करने की शक्ति देंगे। अन्तरात्मा क्या करेगी, वह कहाँ जायेगी—यह सब उसके उस निश्चय पर निर्भर करता है जो उसने शरीर छोड़ने से पहले किया है। और अपने चारों ओर एक ऐसी सत्ता को, जो अपने भौतिक जीवन में पूर्णतया व्यवस्थित और एकीकृत हो चुकी है, बनाये रखने की उसकी यह शक्ति उसे निश्चित रूप से वही चुनाव करने की क्षमता देगी जो वह करना चाहती है। और यह भी सम्भावनाओं का एक बहुत ही भिन्न प्रकार का क्षेत्र है जिसमें एक शरीर से दूसरे शरीर में सचेतन रूप में, बिलकुल सीधे तौर पर जाने से लेकर—ऐसे उदाहरण हैं जिनमें इन पूर्णतः सचेतन तथा पूर्णतः विकसित सत्ताओं में से एक ने धीरे-धीरे एक दूसरी सत्ता को तैयार किया है जो उसे ग्रहण और आत्मसात् करने में सक्षम हो, और एक शरीर छोड़ देने पर उसका भौतिक कार्य बन्द न हो जाये इसलिए वह जाकर दूसरी चैत्य सत्ता के साथ जुड़ जाती है, उसमें घुल-मिल जाती और उसके साथ युक्त होकर दूसरे भौतिक शरीर में चली जाती है; यह एक चरम दृष्टान्त है, अत्यन्त विरल भी है, पर जो पूर्णतः पारम्परिक गुह्यज्ञान का एक अंग है—दूसरी चरम सीमा के उस उदाहरण तक के दृष्टान्त मिलते हैं जिसमें अपने दैहिक अनुभव को समाप्त करने के बाद अन्तरात्मा विश्रान्ति के अन्दर उसे आत्मसात् करना तथा बाद में, कभी-कभी बहुत बाद में, दूसरे भौतिक जीवन की तैयारी करना चाहती है। और इसलिए बहुत-सी दूसरी सम्भावनाओं में से एक बात यह होती है : वह प्रत्येक क्षेत्र में—सूक्ष्म-भौतिक क्षेत्र में, प्राण-क्षेत्र में, मानसिक क्षेत्र में—तत्सम्बन्धी सत्ताओं को छोड़ देती है; वह उनके बीच एक प्रकार की कड़ी के साथ छोड़ती है, पर उनमें से प्रत्येक अपना स्वतन्त्र जीवन बनाये रखती है, और वह स्वयं यथार्थ चैत्य के क्षेत्र, सत्य-जगत् में चली जाती है और तब तक आत्मसात्करण की एक आनन्दपूर्ण विश्रान्ति में बनी रहती है जब तक कि वह *(हँसते हुए)*, जैसा कि इस कागज़ पर लिखा है, अपने सभी अच्छे कर्मों को आत्मसात् नहीं कर लेती, अपने सभी उत्तम कर्मों को पचा नहीं लेती, और एक नया अनुभव आरम्भ करने के लिए प्रस्तुत नहीं हो जाती। और फिर, यदि

उसका कार्य अच्छी तरह सम्पन्न हो जाता है और उसकी सत्ता के अंशों या उसके कोषों ने, जिन्हें उसने उनके विभिन्न क्षेत्रों में छोड़ दिया है, उसी तरह अपना काम चलाया है जिस तरह उन्हें वहाँ चलाना चाहिये तो, जब वह फिर से अवतरित होती है, वह इन सब अंगों को, जो पिछले जीवन में उसके साथ रह चुके हैं, एक के बाद एक ग्रहण करती है और ज्ञान तथा अनुभव की इस सम्पदा के साथ वह एक नये शरीर में प्रवेश करने की तैयारी करती है...। ऐसा शायद सैकड़ों या हज़ारों वर्ष बाद ही होता है, क्योंकि इन क्षेत्रों में जो कुछ सुसंगठित हो चुका है वह आवश्यक रूप से उस विघटन के अधीन नहीं रहता जिसे हम यहाँ "मृत्यु" कहते हैं। जैसे ही कोई प्राण-सत्ता पूर्णतः सुसमञ्जस हो जाती है, वह अमर बन जाती है। जो चीज़ें उसे पिघलाती और छिन्न-भिन्न करती हैं वे हैं उसके अन्दर विद्यमान सब प्रकार की अव्यवस्थाएँ तथा नाश एवं विघटन की सारी प्रवृत्तियाँ; पर यदि वह पूरी तरह सुसमन्वित और संगठित तथा, या यूँ कहें, एक प्रकार से दिव्यभावापन्न हो जाती है तो वह अमर बन जाती है। यही बात मन के लिए भी है। और यहाँ तक कि सूक्ष्म-भौतिक स्तर में भी, जो सत्ताएँ पूर्ण विकसित होती और आध्यात्मिक शक्तियों से भरी हुई होती हैं वे मृत्यु के बाद अनिवार्यतः विलीन नहीं हो जातीं। वे कार्य करना जारी रख सकती हैं अथवा 'प्रकृति' के किन्हीं पानी जैसे तरल तत्त्वों में सुखकर विश्रान्ति ग्रहण कर सकती हैं—सामान्यतया यह कोई तरल पदार्थ होता है, पानी या पेड़ों के रस में—अथवा जैसा कि यहाँ वर्णित है *(हँसते हुए)*, बादलों में भी ऐसा हो सकता है। परन्तु वे सक्रिय भी बनी रह सकती हैं और भौतिक प्रकृति के अधिक स्थूल तत्त्वों पर कार्य करती रह सकती हैं।...

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ४०२-०४

वास्तव में जीवन और मृत्यु एक ही हैं, और विभिन्न दृष्टिकोणों से हम कह सकते हैं कि मृत्यु का हर रूप जीवन की एक प्रक्रिया है जिसमें जीवन बदल जाता है या, दूसरी तरह से यह कह सकते हैं कि जीवन का हर रूप मृत्यु की एक गति है। वास्तव में दोनों एक ही ऊर्जा हैं जिनकी गति हमारे सम्मुख इन दो पहलुओं के द्वन्द्व को दर्शाती है।

CWSA खण्ड १३, पृ. २४१ —*श्रीअरविन्द*

भूत-प्रेत आत्मा नहीं है

भूत-प्रेत से तुम्हारा क्या मतलब है? सामान्य भाषा में "भूत-प्रेत" की विभिन्न अर्थ-छटाएँ होती हैं जिनका, आवश्यक नहीं है कि आपस में कोई सम्बन्ध हो।

कुछ उदाहरणों को लो—

१. मृतक की आत्मा के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध जो सूक्ष्म शरीर में उपस्थित होती है और हमारे मन में किसी बिम्ब या ध्वनि के रूप में प्रकट होती है।

२. मृत व्यक्ति के विचारों और भावनाओं के संस्कारों से बनी हुई कोई मानसिक रचना जो मृतक के घर या मोहल्ले के आस-पास तब तक मँडराती रहती है जब तक कि वह चुक न जाये या किसी-न-किसी तरीक़े से उसे विलीन न कर दिया जाये। जहाँ कभी कोई हत्या हो चुकी हो और बार-बार वहाँ इसी तरह की घटनाएँ इत्यादि घटें तो वह 'भुतहा मकान' के नाम से इसी कारण कुख्यात हो जाता है, क्योंकि इसी तरह की सत्ताएँ वहाँ निवास करती हैं।

३. निम्न प्राणिक स्तरों की कोई सत्ता जिसने मृतक के छोड़े हुए प्राणिक आवरण को धारण कर लिया हो या उसके प्राणिक व्यक्तित्व का कोई अंश हो जो किसी आकार में प्रकट होकर क्रिया करता हो और जिसमें मृत व्यक्ति के विचारों और स्मृतियों का भी आभास मिलता हो।

४. निम्न प्राणिक स्तर की कोई सत्ता जो स्वयं को किसी जीवित पुरुष में किसी-न-किसी तरह, इतने भौतिक रूप में प्रतिष्ठित कर ले कि ऐसा लगे कि वह मृतक उस माध्यम में उतर आया है, उसी के स्वर में बात भी करे, या भौतिक चीज़ों को, उदाहरण के तौर पर, फ़र्नीचर इत्यादि को इधर-उधर सरका कर उनकी जगह बदल दे। हवा में पत्थरबाज़ी, पेड़ों में भूतों का निवास इत्यादि कई जाने-माने मामलों के पीछे इसी तरह की सत्ताएँ होती हैं।

५. अपने ही मन द्वारा रचित भूत-प्रेत जो इन्द्रियों के लिए यथार्थ रूप धारण कर लेते हैं।

६. किसी व्यक्ति पर अस्थायी रूप से किन्हीं प्राणिक सत्ताओं का प्रभुत्व जो उसके किसी मृत सम्बन्धी के होने का ढोंग करती हों।

७. मृत्यु के समय स्वयं व्यक्ति की विचार-रचना का प्रक्षेपण जो उस

समय या कुछ घण्टों तक उसके मित्रों और सम्बन्धियों के साथ बना रहता है।

तुम देखोगे कि इनमें से केवल पहले मामले में आत्मा का प्रवेश होता है और कोई कठिनाई नहीं उभरती।

CWSA खण्ड २८, पृ. ५६९-७०

निश्चित रूप से भूत-प्रेत आत्मा नहीं है। वह या तो प्राणिक शरीर में मनुष्य का प्रकट होना है या फिर वह उसके प्राण का कोई टुकड़ा हो सकता है जिसे किसी प्राणिक शक्ति या सत्ता ने धर दबोचा हो। सामान्यतः हमारे अन्दर का प्राणिक भाग शरीर के विलयन के बाद भी कुछ समय तक बना रहता है, उसके बाद प्राणिक स्तर में चला जाता है और वहाँ तब तक बना रहता है जब तक कि वह प्राणिक आवरण गल नहीं जाता। उसके बाद मनुष्य अगर मानसिक रूप से विकसित हो तो वह हिस्सा मानसिक लोक में चला जाता है और अन्त में चैत्य भी अपना मानसिक आवरण छोड़ कर, अपने विश्राम-लोक में चला जाता है। अगर मन बहुत अधिक विकसित हो, तो मनुष्य का मानसिक भाग बना रह सकता है; उसी तरह प्राण भी बना रह सकता है, बशर्ते कि ये सच्ची चैत्य सत्ता के द्वारा व्यवस्थित हों और चैत्य उनके केन्द्र में हो—तभी वे चैत्य की अमरता में हिस्सा बँटा सकते हैं। अन्यथा, चैत्य मन तथा प्राण को अपने अन्दर समेट कर एक आन्तरिक नीरव-निष्क्रियता में चला जाता है।

CWSA खण्ड २८, पृ. ११७ —श्रीअरविन्द

'मृत्यु' एक ऐसा प्रश्न है जिसे प्रकृति 'जीवन' के सम्मुख निरन्तर रखती है और उसे याद दिलाती है कि अभी तक वह इसका समाधान नहीं कर पायी है। अगर मृत्यु का घेरा न होता तो जीव अपूर्ण जीवन के आकार में सदा के लिए बँधा रहता। चूँकि मृत्यु पीछा करती रहती है इसी कारण जीव पूर्ण जीवन के विचार के प्रति जाग्रत् रहता है और उसे पाने के लिए साधनों और सम्भावनाओं की खोज में रत रहता है।

CWSA खण्ड १३, पृ. २०५ —श्रीअरविन्द

आरम्भ से ही मनुष्य में भागवत स्फुल्लिंग, अन्तरात्मा उपस्थित होती है—लेकिन उसे सचेतन अभिव्यक्ति बनने और अभिव्यक्त सत्ता में आकार लेने में लम्बा समय लगता है, दीर्घ क्रमविकास की आवश्यकता होती है —इसे ही हम चैत्य सत्ता के नाम से पुकारते हैं।

CWSA खण्ड २८, पृ. ११७ *—श्रीअरविन्द*

मृत्यु के कई चेहरे

बिना जाने शान्त मृत्यु

जैसा कि तुमलोग जानते हो, *'न.स.'* ने अपना शरीर छोड़ दिया। वह एक दुर्घटना में गुज़र गया... जब दुर्घटना घटी, वह मेरे पास आया (यथार्थ आकार में नहीं, बल्कि चेतना की एक अवस्था में और मैंने तुरन्त उसको पहचान लिया), वह यहाँ अचल बना रहा, पूर्ण विश्वास और आनन्दमयी शान्ति में—सत्ता की प्रत्येक अवस्था में पूरी तरह से अचल... *(आत्मोत्सर्ग की मुद्रा)* पूर्ण, सम्पूर्ण विश्वास : जो होना हो, हो जाये; जो है, है। कोई प्रश्न नहीं, यहाँ तक कि जानने की कोई आवश्यकता भी नहीं थी। एक सुखद शान्ति... *एक महान् आराम*।

और उधर चिकित्सकों ने उसे जिलाने की भरपूर कोशिश की, शल्य-क्रिया, दवाइयाँ और न जाने क्या-क्या : लेकिन उसके शरीर में कोई हलचल, कोई हलचल न हुई। फिर, एक दिन उन्होंने उसे मृत घोषित कर दिया... जब कि वह सारे समय यहाँ, मेरे पास, एकदम अचल विद्यमान था। तब अचानक मैंने एक कँपकँपी अनुभव की; मैंने देखा—वह चला गया था। मैं किसी कार्य में व्यस्त थी, मैंने समय नहीं देखा, लेकिन यह दोपहर की बात है। बाद में मुझे बताया गया कि उन्होंने उसका दाह-संस्कार करने का निश्चय किया और यह ठीक वही समय था जब उसे जलाया जा रहा था।

दुर्घटना की उग्रता इतनी भयंकर थी कि निर्दयतापूर्वक उसका शरीर समाप्त हो गया, लेकिन निश्चय ही, उस समय वह मेरे बारे में श्रद्धापूर्वक सोच रहा होगा। वह फ़ौरन मेरे पास आ गया और यहाँ अचल बैठा रहा —उसे कुछ पता ही नहीं चला कि चिकित्सक उसके शरीर के साथ क्या कर रहे थे। उसे पता ही न था कि वह मर चुका है!...

तब, उस समय मैंने अपने-आपसे कहा, "जलाने की यह प्रक्रिया भयंकर है!"... उसे पता तक नहीं था कि उसकी मृत्यु हो गयी, दाह-संस्कार के समय उसे इसका ज्ञान हुआ!... शरीर के आकार में जो जीवन बचा था उसकी प्रतिक्रिया से उसे मालूम चला!

जब शरीर बहुत बुरी अवस्था में छूटा हो, फिर भी आकार में बचे जीवन को प्रयाण करने में सात दिन लग जाते हैं। और जो योगाभ्यास

करते हैं वे आकार के इस जीवन के प्रति सचेतन होते हैं। और तुम चिकित्सक द्वारा घोषित मृतक को कुछ ही घण्टों बाद जला देते हो, लेकिन उसके आकार का जीवन बना रहता है, और जिन्होंने योग किया है, वे सचेतन होते हैं।...

लेकिन यह जाने बिना कि तुम मर गये हो, मर जाना सम्भव है...। मैं यह नहीं कहती कि दाह-संस्कार नहीं किया जाये, क्योंकि निन्यानबे प्रतिशत लोगों के लिए यही उत्तम तरीक़ा है।

बस एक ही समाधान है कि व्यक्ति समझदार बनें—जो वे नहीं हैं। वे एक नियम को स्वीकार कर लेते हैं और यह नहीं होना चाहिये कि बस आँखें मूँद कर, बिना समझ के उसी नियम का पालन करते चलें।...

४ जुलाई १९६२ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

मृत्यु के बाद श्रीमाँ के वातावरण में रहना

जब *'आई.बी.'* की हत्या हुई, मुझे उसकी सत्ता तथा उसकी गतियों के सभी स्तरों को समेटना पड़ा जो दुर्घटना की हिंसा के कारण चारों तरफ़ बिखर गये थे—यह भयानक था, वह छितराव की भयंकर अवस्था में था। दो-ढाई दिनों तक चिकित्सकों ने उसमें जीवन-सञ्चार करने की आशा में बहुत संघर्ष किया, लेकिन असम्भव...। उन दो दिनों के दौरान मैंने उसकी छितरी हुई सारी चेतना को—पूरी की पूरी चेतना को समेटा; उसके शरीर के ऊपर मैंने उसे समेटा, यानी इस हद तक एकत्रित किया कि वहाँ चेतना ने आकार ग्रहण कर लिया, ओह, कितनी प्राणशक्ति, कितना जीवन उसके अन्दर वापिस आ रहा था कि कुछ घण्टों के बाद चिकित्सकों ने सोचा कि वह बच जायेगा। लेकिन उसकी चेतना बनी न रह सकी (यह सम्भव नहीं था—उसके मस्तिष्क का एक भाग निकल आया था)। हाँ, तो जब न केवल उसकी अन्तरात्मा बल्कि उसकी मानसिक सत्ता, उसकी प्राणिक सत्ता और बाक़ी सब कुछ उसके शरीर के ऊपर अच्छी तरह एकत्र और संगठित हो गया तब उन सत्ताओं को आभास हुआ कि सचमुच शरीर एकदम व्यर्थ हो गया है, सब समाप्त हो गया है—तब उन्होंने शरीर को छोड़ दिया और सारा खेल ख़तम हो गया।

'आई.बी.' को मैंने अपने समीप इसलिए रखा था क्योंकि मेरे अन्दर

पहले ही यह विचार आ गया था कि मैं तुरन्त उसे किसी दूसरे शरीर में स्थापित कर दूँगी—उसकी अन्तरात्मा सन्तुष्ट नहीं हुई थी, उसने यहाँ अपनी अनुभूति सम्पन्न नहीं की थी... और वह धरती पर अपना जीवन जारी रखना चाहती थी। तब, उस रात, उसकी आन्तरिक सत्ता *'व'* को ढूंढ़ने चली गयी, उसके पास जाकर रोते हुए उसने कहा कि वह मर गया है, लेकिन मरना नहीं चाहता, कि उसका शरीर छूट गया है, लेकिन वह जीना जारी रखना चाहता है। *'व'* बहुत ही परेशान हो उठा। उसने सवेरे मुझे इसकी जानकारी दी: 'देखिये, ऐसा-ऐसा हुआ।' मैंने उसके पास ख़बर भिजवायी कि मैं उसके लिए क्या कर रही हूँ, कि मैं उसे अपने वातावरण में रख रही हूँ और उसे बहुत शान्त रहना, ज़रा भी उत्तेजित नहीं होना चाहिये, क्योंकि जितनी जल्दी हो सकेगा मैं उसे दूसरे शरीर में स्थानान्तरित कर दूँगी—मेरी दृष्टि में कोई था। उसी शाम दोबारा *'आई.बी' 'व'* के पास उसी शिकायत के साथ जा पहुँचा। *'व'* ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में उससे कह दिया, 'श्रीमाँ ने यह-यह कहा है, वे यह-यह करने जा रही हैं; अब चलो, शान्त हो जाओ और स्वयं को यातना मत दो।' और उसने *'आई.बी'* के चेहरे पर यह भाव पढ़ लिया कि वह बात समझ गया (स्वाभाविक रूप से उसकी आन्तरिक सत्ता ने उसकी भौतिक प्रतीति का रूप ले लिया था); उसका चेहरा तनावरहित हो गया, वह प्रसन्न हो उठा।

वह चला गया, फिर कभी लौट कर नहीं आया। यानी, वह चुपचाप मेरे पास रहा जब तक कि मैंने उसे 'च' के नवजात शिशु में स्थानान्तरित नहीं कर लिया।

२४ जून १९६१ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

अन्तरात्मा के प्रयाण करने के बाद अभ्यासवश जीते रहना

तुम *'ब'* को जानते थे?... उसकी चैत्य सत्ता उसे काफ़ी समय पहले छोड़ गयी थी, इसलिए सतही चेतना में वह कुछ विक्षिप्त-सा लगता था —वह विक्षिप्त नहीं था बल्कि उसका ह्रास हो गया था। और वह जी रहा था, जैसा कि मैंने कहा—अभ्यासवश जी रहा था। उसकी भौतिक चेतना के साथ न्यूनतम प्राण और मन अटका हुआ था और वह आदतन जी रहा था। लेकिन विलक्षण बात यह थी कि कभी-कभी, कुछ पलों के लिए, वह

पूरे प्रकाश में, विलक्षण रूप से जीता था, जब कि अन्य समय वह अपनी क्रियाओं पर भी संयम नहीं रख पाता था। फिर वह समय आया जब उसने अपना शरीर पूरी तरह से छोड़ दिया : उसके अन्दर एकत्रित समस्त ऊर्जा धीरे-धीरे, धीरे-धीरे करके उसके शरीर से बाहर निकल गयी। यह ठीक उसके जन्मदिन पर हुआ—३० दिसम्बर की रात को। वह चला गया। तब, जैसा कि हमेशा होता है, लोगों ने उसका कमरा साफ़ किया, फ़र्नीचर हटा दिया। तब से यहाँ उसका कोई चिह्न नहीं नज़र आया। लेकिन कल रात, खाने के बाद (क़रीब उसी समय जब उसने बारह दिन पहले शरीर छोड़ा था), मैं ध्यान में थी, आराम कर रही थी कि अचानक, बहुत ही व्याकुल *'ब'* आ उपस्थित हुआ और मुझसे कहने लगा, "माँ, उन्होंने मेरे कमरे का सारा फ़र्नीचर निकाल बाहर कर दिया है! अब मैं क्या करूँ!?" मैंने बड़े प्यार से उसे समझाया, "धीरज धरो, अब तुम्हें किसी भी चीज़ की और ज़रूरत नहीं है।" फिर मैंने उसे पूरी तरह से शान्त कर दिया और उसे उसकी शेष सत्ता के पास भेज दिया।

इसका यह अर्थ हुआ कि उसके सभी तत्त्वों को दोबारा आकार लेने में बारह दिन लगे। देखो, उन्होंने उसके शरीर को जला दिया था। हमने उसका दाह-संस्कार किया था, मैंने कहा था कि मृत्यु और दाह-संस्कार के बीच काफ़ी समय हो, हम यहाँ उसी तरह करते हैं, हालाँकि *'ब'* के मामले में उसका सचमुच बहुत पहले से ही क्रमिक ह्रास हो गया था और उसके शरीर में बहुत कुछ बचा ही नहीं था; फिर भी मृत्यु के समय उसकी चेतना बड़ी उग्रता के साथ उसके कोषाणुओं से उछल कर बाहर निकल आयी —उसे दोबारा आकार लेने में बारह दिन लगे। वह उसकी अन्तरात्मा नहीं थी (उसने तो उसे पहले ही छोड़ दिया था) बल्कि उसके शरीर का भाव था जो मेरे पास आया, उसकी शरीर-चेतना अच्छी, साफ़-सुथरी पोशाक में, सँवारे हुए बालों के साथ मेरे सामने आ खड़ी हुई। जब वह मेरे पास आया उसका शरीर छरहरा दीख रहा था, ठीक वैसा ही जैसा वह दीखता था। वह हमेशा मेरे पास बन-ठन कर, एकदम त्रुटिहीन आना चाहता था, यही उसका तरीक़ा था। उसे स्वयं को इस तरह इकट्ठा करने में बारह दिन लगे, मैंने यह देखा नहीं (मैं यह उसके लिए कुछ घण्टों में कर देती, लेकिन मैंने इस पर ग़ौर ही नहीं किया), क्योंकि उसके मामले में, चूँकि

उसकी अन्तरात्मा बहुत पहले से ही आराम करने के लिए उसे छोड़ कर चली गयी थी, बहुत ज़्यादा फ़र्क नहीं पड़ा। हाँ, तो १२ दिनों में *'ब'* ने दोबारा आकार ले लिया और जब वह तैयार हो गया *(हँसी)* तो अपना कमरा वापिस लेने आ पहुँचा!... और वहाँ जाकर उसने देखा कि कोई फ़र्नीचर नहीं है, कुछ भी नहीं है!

मुझे यह बात बड़ी रोचक लगी।

सचमुच वह एक साल से ज़्यादा, मेरे ख़याल से क़रीब-क़रीब दो सालों तक बिना अन्तरात्मा के जिया, बस अभ्यासवश जीता रहा!

*

यहाँ एक और स्त्री का भी उदाहरण है। वह उस लम्बे-चौड़े वयस्क डॉक्टर की बहन है। मेरे ख़याल से वह मुझसे पाँच-छह साल बड़ी है—वह नब्बे के क़रीब पहुँच रही है। चिकित्सकों ने (जो इन मामलों में ज़्यादा कुछ नहीं जानते) घोषणा कर दी कि कुछ दिनों में उसका देहान्त हो जायेगा। "ज़रा ठहरो," मैंने उनसे कहा, "यह स्त्री आराम की स्थिति में चले जाना जानती है, इसके अन्दर बहुत ही शान्तिपूर्ण चेतना है—वह चेतना बहुत समय तक बनी रहेगी, वह कई सालों तक बनी रह सकती है।" उसने बिस्तर पकड़ लिया था, वह ज़्यादा हिल-डुल नहीं सकती थी, लेकिन... वह जी रही थी। वह भी अभ्यासवश जी रही थी।

वास्तव में, मनुष्य जितना सोचते हैं उससे कहीं ज़्यादा समय तक शरीर जीवित रह सकता है। जैसे ही कोई गम्भीरतया बीमार पड़ता है, उसे जल्दी-से-जल्दी ठीक करने के लिए उसके अन्दर दवाइयों पर दवाइयाँ भरी जाती हैं, चिकित्सक आकाश-पाताल एक करने की ठान लेते हैं; जब कि करना यह चाहिये कि अगर कोई गम्भीर बीमारी है तो शरीर को प्रशान्ति में आराम करने देना चाहिये, भले ऊपर से वह शरीर एकदम से निष्क्रिय क्यों न दीखे, क्योंकि तब शरीर धीरे-धीरे, शान्ति से प्रयाण करता है। उसी तरह जैसे पेड़ बहुत ही धीरे-धीरे मरते हैं।

१२ जनवरी १९६३ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

स्नायुओं में शान्ति : अच्छे स्वास्थ्य के लिए अपरिहार्य। —श्रीमाँ

छिपे हुए आश्चर्य

एक इस तरह की घटना भी घटी : इस छोटी बच्ची ने शरीर छोड़ दिया, अब वे उसका दाह-संस्कार करने वाले हैं। उससे पहले वे मेरे पास फूलों की एक ट्रे लेकर आये जिन फूलों को वे उसके शरीर पर चढ़ाने वाले थे, और यह लो! उस ट्रे में उस बच्ची का कुछ था—उसकी चैत्य सत्ता का एक अंश; और उसमें हलकी-सी हलचल हुई... अचानक, कोमलता का कितना गभीर स्पन्दन था वह। वह बच्ची वहाँ उपस्थित थी... मैंने गुलाब का एक फूल उठाया और मानों मैंने वह पुष्प उसे उसके हाथ में दिया; मैंने वह देकर कहा, "लो, यह तुम्हारे लिए है।" और वह सब कुछ, वे सभी स्पन्दन, सब कुछ कितना ज्योतिर्मय, कितना सुखद-सुन्दर था, और वह बच्ची (उसका सचेतन भाग) कितने पूर्ण रूप में आनन्दित था!...

यह सब माता-पिता से कैसे कहा जा सकता है भला? वे कहेंगे, "तुम एकदम सनकी, पागल हो!"

लेकिन यही **तथ्य** है, सीधा-सच्चा तथ्य : मैंने *चम्पकलाल* को ट्रे लेकर आते हुए देखा, और वह (चैत्य-अंश) ऊपर तैर रहा था, इस तरह; तो जब मैंने उसे देखा तो एक गुलाब लिया और... कोई इतनी सुन्दर चीज़ थी, इतनी उज्ज्वल, इस तरह की (बहुत ही छोटी-सी चीज़ थी, कोई महान् शक्ति या ऐसा कुछ न था), लेकिन कितनी सुन्दर थी, कितनी उज्ज्वल, कितनी ख़ुश, उसमें आराम का कितना सुखद भाव था।...

और ऐसा कितनी ही बार हुआ होगा!

मेरे बच्चे, हम कुछ नहीं जानते! दिन पर दिन, मुझे अधिकाधिक यह विश्वास होता चला जा रहा है कि हम कुछ भी नहीं जानते। हम समझते हैं कि हम जानते हैं, हम सोचते हैं... लेकिन हम कुछ भी नहीं जानते। हम गुप्त आश्चर्यों के बीच रहते हैं जो हमारी दृष्टि से चालाकी से पूरी तरह इसलिए बच निकलते हैं क्योंकि हम महामूर्ख हैं!

३ मई १९६९ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

अगर हम अपने अन्दर, कुछ अधिक अन्दर जायें तो हमें पता लगेगा कि हममें से हर एक के अन्दर एक चेतना है जो युगों से जीती आ रही है और विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती आ रही है। *—श्रीमाँ*

एक संस्मरण

(आश्रम के बहुत पुराने सदस्य स्व. उदार पिण्टो को कौन नहीं जानता? श्रीमाँ के बहुत निकट थे उदार दा। आश्रम के कई विभागों की शुरुआत में उदार दा का बड़ा हाथ था। उन्हीं का एक लघु संस्मरण है—

श्रीमाँ ने एक बार मुझसे कहा था,

"मैं हमेशा तुम्हारे साथ होऊँगी, निरन्तर तुम्हारी देखभाल करती रहूँगी, मुझे बस तुम पुकारो।" और यह भी कहा था, "लोग मुझे बहुधा पुकारते ही नहीं है, मुझसे पर्याप्त मात्रा में माँगते ही नहीं हैं।"

यह ऐसी चीज़ थी जिसके बारे में मैं जानता ही नहीं था, इस विषय पर मैंने पहले कभी सोचा तक नहीं था। उन्होंने मुझसे कहा, "माँगो, माँगो, माँगते रहो, जो चाहो तुम मुझसे माँग सकते हो। तुम्हारा काम है माँग करना, मैं दूँ या न दूँ, यह मेरा मामला है। लेकिन माँगने में कोई हर्ज़ नहीं है, मुझसे तुम कोई भी चीज़ माँग सकते हो।"

तो उस दिन से मैंने माँ से माँगना शुरू कर दिया। मैं छोटी-से-छोटी चीज़ के लिए भी माँ से पूछने लगा, मुझे जो भी चाहिये होता, मैं उसकी माँग कर लेता, भले वह नगण्य से नगण्य वस्तु क्यों न होती।

अगर मैं सवेरे तीन बजे उठना चाहूँ तो मैं माँ से ही कहता हूँ, उनसे माँग करता हूँ, "माँ, आप मुझे कल सवेरे तीन बजे उठा देंगी न?"

मुझे कभी अलार्म घड़ी की ज़रूरत न पड़ी।

अपना यह वादा माँ बड़ी भव्यता के साथ निभाती चली आ रही हैं। वे हमेशा मेरे साथ होती हैं, मेरे बहुत, बहुत क़रीब, और अगर कभी-कभी मैं इस अनुभव से ज़रा दूर हट जाऊँ तो मुझे उन्हें पुकारना भर होता है और तुरन्त मुझे उनकी उपस्थिति का अनुभव होता है। बहुत प्रबल अनुभव होता है। तब तो यह बात एकदम सही है कि श्रीमाँ सब जानती हैं। यहाँ तक कि उन्हें यह भी ज़रूर पता था कि वे अगले साल (१९७३ में) प्रयाण कर लेंगी। वे जानती थीं कि भौतिक रूप से वे हमें छोड़ देंगी, और सचमुच १७ नवम्बर १९७३ को उन्होंने प्रयाण कर लिया, और जानते हो इस तरह उन्होंने क्या किया? अब हमें उनके पास नहीं जाना होता है बल्कि वे ही हमारे पास निरन्तर आती रहती हैं।

श्रीमाँ ने मुझसे यह वादा किया था और मुझे पूरा विश्वास है कि उनकी यह प्रतिज्ञा हम सब पर, उनके हर एक बच्चे पर लागू होती है।

—उदार

इहलोक—परलोक

अनीता मूरजानी की अंग्रेज़ी पुस्तक "DYING TO BE ME" एक बहुचर्चित किताब बन चुकी है। मृत्यु के लोक से वापिस आकर लेखिका ने अपनी अनुभूतियाँ इस पुस्तक में सँजोयी हैं—एक बार इसे पढ़ कर प्रत्येक मृत्यु के भय पर विजय पा सकता है और किताब हाथ में आयी नहीं कि उपन्यास की भाँति अथ से लेकर इति पर ही पाठक उसे छोड़ता है। उसी पुस्तक के कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत हैं—

मृत्यु के कगार पर मुझे अनुभव हो रहा था कि मैं समस्त ब्रह्माण्ड से जुड़ गयी हूँ, सब कुछ मेरे अन्दर समाया हुआ है और मुझे लगा कि यह सारा विश्व धड़क रहा है, ऊर्जा से लबालब है, पूरी तरह से सचेतन है। मैंने देखा कि मेरे इस भौतिक शरीर के प्रत्येक विचार, प्रत्येक भावना और प्रत्येक क्रिया का "सम्पूर्ण" पर प्रभाव पड़ रहा था। वास्तव में 'एकमेव' के राज्य में मुझे यह ठोस अनुभूति हो रही थी कि यह सम्पूर्ण विश्व **मेरा** ही प्रसार है। वहाँ मैं पूरी तरह से सचेतन थी, वास्तव में इस उपलब्धि ने पृथ्वी की चीज़ों के बारे में बने मेरे दृष्टिकोण को, मेरी सोच को एकदम उलट दिया। मैंने यह ठोस अनुभव किया कि हम सब हमेशा थे, हमेशा हैं और हमेशा रहेंगे...।

उस लोक की अनुभूति का वर्णन करने के लिए सचमुच इस लोक के शब्द बड़े ग़रीब जान पड़ते हैं, फिर भी...

कभी मौत की देहलीज़ पर खड़े होकर और कभी उसको पार कर, मुझे जो अनुभव हुए उसने मेरी कितनी धारणाओं को चूर-चूर कर दिया। मैं सोचती थी कि जीवन का अन्तिम उद्देश्य निर्वाण प्राप्त करना है, पुनर्जन्म के चक्कर से निकल कर सीधा उस लोक में पहुँच जाना है... जिसे किसी ने स्वर्ग, किसी ने बहिश्त, किसी ने पैरेडाइज़ का नाम दिया है, लेकिन वहाँ पहुँच कर मुझे पता चला कि उस सबके लिए लोक बदलने

की ज़रूरत नहीं है, चूँकि हम मृत्यु से डरते हैं इसीलिए लोक-परलोक की बात करते हैं—सचमुच मृत्यु कुछ नहीं है, समय बस एक लकीर में नहीं चलता, समय सार्वभौम है, समय विश्व है, यहाँ और वहाँ—सब कुछ एक साथ घटित हो रहा है—हम कहते हैं, समय बीत रहा है, नहीं, वह तो *स्थिर* है, हम उससे गुज़र रहे हैं। इस धरती पर हम अपनी इन्द्रियों से सीमित हो जाते हैं—हमारी आँख बस इसी क्षण की चीज़ देखती है, उसी तरह हमारे कान काम करते हैं। मन क्षण-क्षण जीता है, लेकिन जब हम अपने भौतिक शरीर से उफन कर बाहर निकल आते हैं तब सचेतन रूप से देश और काल की सभी सीमाओं को लाँघ जाते हैं—दर्शन, श्रवण, स्पर्श, आस्वाद, घ्राण—कुछ नहीं रहता। हम बन जाते हैं *विशुद्ध चेतना*। तब मैंने सोचा—अगर स्वर्ग और नरक **यहाँ** इस धरती पर ही हों, जीवन के परे **वहाँ** नहीं?

मैंने अनुभव किया कि हम प्रेम, आवेग और मानव संवेगों-भावनाओं के समस्त लोक को अभिव्यक्त करने के लिए ही इस धरती पर सचमुच जन्म लेते हैं जिन्हें हम 'विशुद्ध अभिव्यक्ति' और 'एकमेव' में पृथक् रूप से अनुभव नहीं कर सकते हैं। यह संसार सचमुच अभिव्यक्ति का क्रीड़ास्थल है। हम यहाँ मृत्युलोक के लिए अनुभूतियाँ बटोरने नहीं आये हैं, इसकी कोई आवश्यकता नहीं, हमें उस लोक में किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं, बल्कि हमें तो इस भौतिक विश्व में रह कर अपने आन्तरिक जीवन में विकसित होना है। जब मुझे यह अनुभूति हुई कि इस समय मेरा स्थान धरती है, मैंने निश्चय कर लिया कि मुझे वहाँ वापिस जाना है। मैंने देख लिया कि निर्वाण का अनुभव पाने के लिए हमें मृत्यु की प्रतीक्षा करने की ज़रूरत नहीं... **हमारी सच्ची भव्यता यहाँ इस धरती पर, ठीक इसी क्षण उपस्थित है!**

मृत्यु शब्द से मनुष्य इसलिए इतना घबराता है क्योंकि हम मृत्योत्तर लोक के अपने ही विचार गढ़ लेते हैं, देवताओं को अपनी ही परिभाषा दे बैठते हैं। हम मानव-मूल्यों से देवताओं को सजा देते हैं, भय, दण्ड, न्याय इत्यादि के देवी-देवता गढ़ लेते हैं और फिर उनसे भय खाते हैं।

लेकिन अगर समस्त काल और समस्त अनुभूति प्रति क्षण हमारे सम्मुख उपस्थित हैं तो हम सर्वसमर्थ हैं, हमें किसी से भी भय खाने की ज़रूरत

नहीं। 'आगे क्या होगा'—वाक्य हमारे लिए कोई मायने नहीं रखेगा। हम उस 'परम ऊर्जा' के प्रति सचेतन हो सकते हैं जिसके हम सब अंश हैं—और तब हम अपने जीवन के **प्रत्येक** पहलू से प्रेम करने लगेंगे।

यह बड़ी दुःखद बात है कि हम अपने बाहर प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने की कोशिश करते हैं—हम हमेशा धर्म, दवाई, वैज्ञानिक खोजों, किताबों तथा दूसरे लोगों का सहारा लेते हैं। हम सोचते हैं कि सत्य सचमुच कहीं बाहर विचर रहा है, हमसे दूर-दूर भागता फिरता है। और सचमुच ऐसा करके हम ख़ुद अपने से ही दूर-दूर होते जाते हैं, भटक जाते हैं। वस्तुतः सारा संसार हमारे अन्दर है। मेरे सभी प्रश्नों का उत्तर मेरे ही अन्दर है और तुम्हारा तुम्हारे अन्दर। मैंने यह भी देखा कि मैं मात्र एक शरीर नहीं हूँ, मैं उस पवित्र 'परमात्मा' का एक अंश हूँ जो अनन्त, भव्य, स्पष्ट और पारदर्शक है। मुझे विश्वास है कि जब धरती पर हम अपना शरीर छोड़ते हैं तब उस 'अनन्त चेतना' से जुड़ जाते हैं। हम सब एक हैं। कइयों ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों में इसे स्पष्ट रूप से देखा है। वस्तुतः न मैं यह शरीर हूँ, न जाति, न धर्म, न वे सब विश्वास जिन्हें मैंने ओढ़ रखा है। मेरा सच्चा स्व अनन्त है, बहुत शक्तिशाली है—एक सम्पूर्ण और समस्त सत्ता है जिसे न तोड़ा जा सकता है, न उसे किसी भी तरह की क्षति पहुँचायी जा सकती है। मेरे अनन्त 'मैं' के पास वे सभी साधन हैं जिनके द्वारा वह जीवन-नैया को पार लगा देगा, क्योंकि मैं 'वैश्व ऊर्जा' के साथ **एक** हूँ। वस्तुतः, **मैं** 'वैश्व ऊर्जा' हूँ।

मृत्यु के द्वार पर मुझे यह प्रबल प्रतीति हुई कि मेरे बाहर कुछ नहीं है, क्योंकि मैं 'वैश्व ऊर्जा' की सम्पूर्णता के साथ एक हो गयी थी। ऐसा अनुभव हो रहा था मानों परिपूर्णता मुझे घेरे हुए थी। उस अवस्था में मेरे अन्दर सब कुछ स्पष्ट हो गया। मुझे महसूस हुआ कि मैं सब कुछ बन गयी हूँ। अपनी इस विशालता को देख पाना और यह जान लेना कि मैं और विश्व एक हैं, मैंने देखा कि धरती पर मैंने जिस कैंसर से शरीर छोड़ दिया था, वह मेरे शरीर से एकदम ग़ायब हो गया! और इस अभिज्ञता में जीते हुए मैं भौतिक लोक के साथ सम्पर्क में थी—बल, प्रेम, साहस की बाढ़ आ गयी थी मेरे अन्दर।

और मैं पूर्ण स्वस्थ होकर, परलोक से इहलोक में उतर आयी...।

पुरोधा' :

दैनन्दिनी

दिसम्बर

१. सत्यनिष्ठ होने में एक अद्‌भुत आनन्द है। सत्यनिष्ठता का प्रत्येक कार्य अपने-आप में अपना प्रतिदान ले आता है : पवित्रता की, ऊपर की ओर उड़ान भरने की, उस मुक्ति की भावना को ले आता है जिसे मनुष्य तब पाता है जब वह मिथ्यात्व के एक छोटे-से कण को भी त्याग देता है।

२. कामना को तृप्त करने की अपेक्षा उसे जीतने और उसका परित्याग करने में अपार रूप से अधिक महान् आनन्द है। प्रत्येक सत्यनिष्ठ और दृढ़-निश्चयी साधक को कुछ समय बाद, देर या सवेर, कभी-कभी बहुत ही जल्दी यह साक्षात्कार होगा कि यह एक परम सत्य है, और कामना पर विजय प्राप्त करनेकी अनुभूति का आनन्द कामना की तृप्ति से प्राप्त हो सकने वाले क्षणजीवी और मिश्रित सुख से इतना अधिक ऊँचा होता है कि उससे इसकी तुलना नहीं हो सकती।

३. भला यह शरीर, जैसे ही हम कुछ उन्नति कर लेते हैं, बैठ जाने की आवश्यकता क्यों अनुभव करता है? यह थक जाता है। कहता है : "ओह! ठहरो, मुझे थोड़ा विश्राम कर लेने दो।" यही चीज़ है जो इसे मृत्यु की ओर ले जाती है। यदि यह अपने में सदा ही और अधिक अच्छा करने, और अधिक पवित्र होने, और अधिक सुन्दर होने, और अधिक प्रकाशपूर्ण होने और सदा-सर्वदा युवा बने रहने का प्रवेग अनुभव कर सकता तो व्यक्ति प्रकृति के इस भयंकर परिहास से बच सकता है।

४. ऐन्द्रिय सुख धोखा देने वाला और विकृत छद्मरूप है जो हमें अपने लक्ष्य से भटका कर दूर ले जाता है। यदि हम सत्य को पाने के उत्सुक हैं तो निश्चय ही हमें इसकी खोज नहीं करनी चाहिये। यह सुख हमें सारहीन बना देता है, हमें ठगता और भटकाता है।

५. यह स्थूल पार्थिव अस्तित्व एक अद्‌भुत सुयोग है, एक सम्भावना है जो तुम्हें जीवन के अस्तित्व-हेतु का पता लगाने, इस गभीरतर

सत्य की ओर एक पग आगे बढ़ने के लिए दी गयी है। इसलिए दी गयी है कि तुम उस रहस्य को खोज सको जो तुम्हें दिव्य जीवन के शाश्वत आनन्दोल्लास के सम्पर्क में ला देता है।

६. जिस भावना और चेतना से कोई कर्म किया जाता है वही उसे यौगिक कर्म बनाती है, न कि स्वयं कर्म।

७. अहंभाव की क्रीड़ा के बिना संसार में संघर्ष नहीं हो सकते। यदि प्राण में नाटकीय प्रवृत्ति न हो तो जीवन में भी कोई नाटकीय घटना नहीं होगी।

८. हे प्रभो, मेरी समस्त सत्ता को जगा ताकि मैं तेरे लिए आवश्यक यन्त्र, तेरा पूर्ण सेवक बन सकूँ।

९. आन्तरिक सत्ता की सभी क्रियाएँ सहज-स्वाभाविक होनी चाहियें—ऐसी सहज-स्वाभाविकता जो आन्तरिक सामञ्जस्य से, सहानुभूतिपूर्ण समझ से, स्वेच्छा से किये गये आत्मदान से, गभीरतर सत्य की ओर सत्ता के सच्चे स्वरूप, हमारे 'स्रोत' और 'उद्देश्य' की ओर वापस मुड़ने से आती है।

१०. जिस क्षण मनुष्य आगे बढ़ना बन्द कर देता है, वह पीछे जाता है। जिस क्षण वह तुष्ट होकर बैठ जाता है तथा और आगे अभीप्सा नहीं करता वह मरना शुरू कर देता है। जीवन है गति, जीवन है प्रयास, जीवन है आगे की ओर बढ़ना, एक पहाड़ी चढ़ाई चढ़ना, नये-नये ज्योति-शिखरों को पार करना और भविष्य की चरितार्थता की ओर अग्रसर होना।

११. विश्राम करने की इच्छा से बढ़ कर ख़तरनाक कोई वस्तु नहीं है। हमें विश्राम की खोज करनी चाहिये कर्म में, प्रयास में, आगे की ओर बढ़ने में—उस सच्चे विश्राम की जो भागवत कृपा में पूर्ण भरोसा रखने से, इच्छाओं के अभाव से, अहं पर विजय प्राप्त करने से मिलता है।

१२. व्यक्ति को अधीर नहीं होना चाहिये, बल्कि यह समझना चाहिये कि सच्चे रूप में ज्ञान पाने के लिए, वह चाहे जो भी हो, उसे व्यवहार में लाना ज़रूरी है, अर्थात्, अपनी प्रकृति पर प्रभुत्व पाना ज़रूरी है ताकि तुम उस ज्ञान को क्रिया में अभिव्यक्त कर सको।

१३. तुम्हें यह जान लेना चाहिये कि अपनी प्रकृति की एक ज़रा-सी दुर्बलता

पर, ज़रा-सी तुच्छता पर, ज़रा-सी क्षुद्रता पर विजय पाने के लिए भी बहुत अधिक दृढ़ अध्यवसाय और अटूट धैर्य की आवश्यकता होती है। दिव्य प्रेम के बारे में बातें करने से क्या लाभ यदि व्यक्ति बिना अहंभाव के प्रेम नहीं कर सकता?

१४. वह साहस और वह वीरता, जिसकी भगवान् हमसे अपेक्षा रखते हैं, उसका उपयोग हम अपनी कठिनाइयों, अपूर्णताओं और मलिनताओं के विरुद्ध लड़ने में क्यों न करें?

१५. मानव प्रगति के विभिन्न पहलू हैं जो एक-दूसरे को अच्छी तरह पूर्ण करते हैं पर उनमें और भी बहुत-से पहलुओं को मिलाने की ज़रूरत है ताकि एक अधिक समग्र और पूर्ण प्रगति हो सके, जीवन के प्रति अधिक पूर्ण समझ पैदा हो सके और भगवान् के प्रति हमारी पहुँच अधिक सर्वांगीण बन सके।

१६. बस एक ही चीज़ महत्त्वपूर्ण है, वह है भगवान् को पाना।
हर एक के लिए और समस्त जगत् के लिए हर चीज़ उपयोगी हो सकती है यदि वह भगवान् को पाने में सहायक हो।

१७. तुम्हें जो चीज़ जाननी चाहिये वह है, ठीक तरह से यह जानना कि तुम जीवन में क्या करना चाहते हो। इसे सीखने में जो समय लगता है उसकी परवाह मत करो, क्योंकि जो लोग सत्य के अनुसार जीना चाहते हैं, उनके लिए हमेशा कुछ सीखने के लिए, कुछ प्रगति के लिए होता ही है।

१८. सच्ची बुद्धि पाने के लिए मन से बाहर निकलो।
सच्ची अनुभूति पाने के लिए संवेदनों से बाहर निकलो।
सच्ची क्रियाशीलता पाने के लिए अपनी भावुकता से बाहर निकलो।

१९. प्राण उत्साह देता है लेकिन स्वभावतः प्राण अस्थिर होता है और हमेशा नयी-नयी चीज़ों की माँग करता है। जब तक कि वह परिवर्तित होकर भगवान् का आज्ञाकारी सेवक न बन जाये, चीज़ें हमेशा घटती-बढ़ती रहती हैं।

२०. अनुभूति तार्किक मन से बहुत आगे तक जाती है। स्पष्ट है कि तार्किक मन को भगवान् तक पहुँचना कठिन लगता है लेकिन सरल हृदय उनसे लगभग बिना किसी प्रयास के नाता जोड़ सकता है।

२१. मानव सत्ताओं में मानसिक क्रिया-कलापों के विकास के साथ-साथ आत्मवञ्चना की सूक्ष्मता भी बढ़ती है। वे जितने अधिक बौद्धिक होते हैं उतने अधिक आत्म-वञ्चना में भोले और साथ-साथ कपटपूर्ण भी होते हैं।

२२. अगर तुम पूरी सच्चाई के साथ भागवत इच्छा को प्रकट करने के लिए कार्य करते हो तो बिना अपवाद के हर काम निस्स्वार्थ बन सकता है, परन्तु जब तक यह स्थिति न आ जाये तब तक ऐसे काम होते हैं जो भगवान् के साथ सम्पर्क जोड़ने के लिए ज़्यादा अनुकूल होते हैं।

२३. काम हाथ में ले लो और श्रद्धा रखो; आवश्यकता के अनुपात में शक्ति आयेगी। तुम्हारी ग्रहणशीलता तुम्हारी श्रद्धा और तुम्हारे विश्वास पर निर्भर करती है।

२४. काम में व्यवस्था और सामञ्जस्य होने चाहियें, जो काम यूँ देखने में बिलकुल नगण्य है उसे भी सम्पूर्ण पूर्णता के साथ, सफ़ाई, सुन्दरता, सामञ्जस्य और सुव्यवस्था के साथ करना चाहिये।

२५. आओ, हम जैसे प्रार्थना करते हैं उसी तरह कार्य करें क्योंकि वस्तुतः कार्य भगवान् के प्रति शरीर की उत्तम प्रार्थना है।

२६. जब तुम अपने-आपको किसी निस्स्वार्थ लक्ष्य को चरितार्थ करने के लिए अर्पित करते हो तो यह आशा कभी न करो कि सामान्य लोग तुम्हारी प्रशंसा या तुम्हारा समर्थन करेंगे। इसके विपरीत, वे हमेशा तुम्हारे विरुद्ध लड़ेंगे, तुमसे घृणा करेंगे और तुम्हें बुरा-भला कहेंगे। लेकिन भगवान् तुम्हारे साथ होंगे।

२७. जब तुम सचमुच बदल जाओगे तो तुम्हारे चारों ओर की सब चीज़ें भी बदल जायेंगी।

२८. तिरस्कार और अपमान से ऊपर होना तुम्हें सचमुच महान् बनाता है।

२९. भागवत चेतना की आँख निश्चेतना के गभीर गह्वर में एक शाश्वत हीरे की भाँति चमकती है।

३०. अवचेतना तक में भगवान् विद्यमान हैं।

३१. रात के बाद दिन आता है। बादल विलीन होते हैं और सूर्य पहले से कहीं अधिक तेज के साथ प्रकट होता है।

सैण्टा हैं न?

(दिसम्बर, यानी क्रिसमस का आगमन, सैण्टा की अगवानी और बच्चों का अपार आनन्द।

पढ़िये, एक बच्ची की शंका और उसके समाधान का पत्र... —सं)

जी हाँ, तो यह रही वह प्रसिद्ध चिट्ठी जो १८९७ में वर्जीनिया नामक एक बच्ची ने 'न्यूयॉर्क सन' नामक समाचार-पत्र के सम्पादक को लिखी थी। बच्ची यह जानना चाहती थी कि सैण्टा का सचमुच अस्तित्व है न?

प्रिय सम्पादक...

मेरी उम्र आठ साल की है। मेरे घर, मोहल्ले के कई बड़े कहते हैं कि 'क्रिसमस फ़ादर' तो हैं ही नहीं, उनकी तो बस कल्पना है। लेकिन मैं, मेरा भाई और मेरी कुछ ख़ास सहेलियाँ मेरे पापा के साथ सहमत हैं जो कहते हैं कि "सैण्टा हैं, सचमुच हैं।" पापा तो कहते हैं कि मैं उन्हें सूरज में, चन्दा में, तारों में, पानी में, पहाड़ों पर, यानी सब जगह देख सकती हूँ अगर मैं अपनी आँखें खुली रखूँ और अगर मैं सचमुच उन्हें देखना चाहूँ। वैसे सच्ची बात तो यह है कि अभी तक मैंने भगवान् के सैण्टा को नहीं देखा, मतलब यह कि क्रिसमस के रोज़ पापा तो सैण्टा के लाल कपड़े पहन, सफेद दाढ़ी लगा कर हम सबको ख़ूब भाते हैं, लेकिन वे सचमुच के सैण्टा तो नहीं हैं न? वैसे कहते हैं कि रात को चिमनी के रास्ते से ऊपरवाले सैण्टा घर-घर उतर कर बच्चों के उपहार रख जाते हैं, लेकिन मैं और मेरा भाई हर साल बड़ी-बड़ी योजनाएँ बना कर भी आज तक उतनी रात तक जगे नहीं रह पाये। अब आप ही बतलाइये, क्या सचमुच सैण्टा हैं? आप तो देश-विदेश की ख़बरें ला-ला कर छापते हैं। हो सके तो जल्दी ही इस बात का पता लगा लीजिये, क्रिसमस के पहले मैं यह जान लेना चाहती हूँ, नवम्बर तो आ ही गया है। कष्ट के लिए क्षमा। एक बार यह बात साफ़ हो जाये तो हम सब बच्चों के लिए उनके होने, न होने की दुविधा हमेशा के लिए दूर हो जायेगी। आपकी चिट्ठी की आतुरता से प्रतीक्षा करती हुई, आपके पत्र के चित्रों की बहुत बड़ी प्रशंसक—

वर्जीनिया ओ' हैनलॉन

लौटती डाक से सम्पादक ने जवाब भेजा—

प्यारी वर्जीनिया,

वे सभी बड़े-बूढ़े जो कहते हैं कि सैण्टा बस कल्पना ही कल्पना हैं, पूरी तरह से ग़लत हैं क्योंकि वे सभी बड़े तो शक और सन्देह के जाल में फँस चुके हैं। तुम कभी उस जाल में न फँसना क्योंकि बड़े बस उसी पर विश्वास करते हैं जिसे वे अपनी आँखों से देख सकते हैं, जिसके साथ वे आमने-सामने खड़े होकर बातें कर सकते हैं। वे तो यही समझते हैं कि जो चीज़ उनकी समझ में न आये वह चीज़ है ही नहीं। वर्जीनिया, जानती हो, ये सभी बड़े-बूढ़े बड़े सीमित मनवाले होते हैं। (चुपके से तुम्हें यह बता दूँ कि बड़ों से कहीं ज़्यादा बच्चों के मन खुले हुए और विशाल होते हैं।) जानती हो न, कितनी सारी दुनियाएँ बनायी हैं भगवान् ने, कितनी सारी समझ और बुद्धिमानी फैला दी है उन्होंने चारों तरफ़, उसमें हम मनुष्यों के हिस्से भी थोड़ी-सी समझ आयी ज़रूर है, लेकिन हम उस ज़रा-सी अक़्ल को पाकर इतना उछलते-कूदते, शोर मचाते रहते हैं, अपने-आपको इतना बड़ा समझने लगे हैं कि सैण्टा के होने, न होने के बारे में सवाल पूछते हैं!!

वर्जीनिया, तुम्हारे पापा एकदम सही हैं। सैण्टा हैं, थे और हमेशा रहेंगे। तुम बहुत समझदार हो इसलिए मैं तुमसे इस दुनिया की बड़ी-बड़ी बातें कर रहा हूँ। जैसे दुनिया में प्रेम, उदारता, भक्ति मौजूद हैं और इनसे हमारे जीवन में निरन्तर सौन्दर्य और आनन्द के झरने फूटते रहते हैं उसी तरह सैण्टा भी सारी दुनिया पर छाये हुए हैं। ज़रा उन बड़े-बूढ़ों से पूछना कि क्या उन्हें बच्चों के खिलखिलाने, कलियों के फूटने, चिड़ियों के चहचहाने, या प्रार्थना में मुँदी आँखों और जुड़े हाथों को देख आश्चर्य होता है? नहीं न! तो फिर बच्चों के चहेते सैण्टा के होने पर वे अविश्वास क्यों करते हैं भला? अरे! सैण्टा न होंगे तो यह दुनिया कितनी नीरस, भद्दी हो जायेगी क्योंकि क्रिसमस के आगे-पीछे रौशनी और सजावट का सैलाब कहाँ उमड़ेगा? ख़ुद सैण्टा के यहाँ से मनचाहा उपहार पाने के महीनों पहले के उस सुखद इन्तज़ार का क्या होगा? दुनिया से सैण्टा को उठाने की बात तो ठीक वैसी होगी जैसे कोई कहे कि वर्जीनिया जैसे बच्चों को ही दुनिया से निकाल दो!! और फूलों की ख़ुशबू, हवा की सनसनाहट, पानी की

गहराई, पहाड़ों की ऊँचाई—सब कुछ को अस्तित्व से मिटा दो। तब तो बच्चों के जिस सरल शाश्वत विश्वास से यह दुनिया जगमगा रही है वह रौशनी एक झटके में गुल हो जायेगी...।

सैण्टा में विश्वास न करना—यह तो परियों पर विश्वास न करने जैसी बात हुई। हो सकता है कई बड़े-बड़े ज्ञानी क्रिसमस की पूर्व-सन्ध्या को अपने-अपने घर की चिमनियों के पास सैण्टा को धर पकड़ने के लिए घण्टों बैठे रहे हों, लेकिन क्या वे बड़े-बूढ़े कभी उन्हें पकड़ पाये? चिमनी से उतरते हुए सैण्टा मासूम बच्चों को तो ख़ूब अच्छी तरह दिख जाते हैं, लेकिन उन बुद्धिमान् बड़ों की निगाह से बड़ी चतुराई से बच निकलते हैं; तो क्या इससे यह साबित हो गया कि सैण्टा हैं ही नहीं? बकवास!! जानती हो वर्जीनिया, दुनिया की सबसे सच्ची चीज़ें वे ही होती हैं जिन्हें बड़े नहीं देख पाते। तुमने तो कभी-कभी परियों को अपने बगीचे के फूलों पर नाचते देखा होगा? चन्दा मामा के साथ भी तुम आये दिन बतियाती होगी, अपने गुड्डे-गुड़ियों को सामने बिठा कर क्या तुम उन्हें सबक नहीं सिखातीं? क्या यह सब तुम्हें नकली लगता है? बड़ों से तो यह सब करने को कहो, मुँह बिचका कर, अपने किसी नीरस काम में लग जायेंगे। कितना कुछ खो चुके हैं ये बड़े! लेकिन तुम बड़ी होकर भी अपने बचपन की सच्चाई का हाथ कस कर पकड़े रखना। मासूमियत के उस परदे से झाँक कर इस दुनिया पर बीच-बीच में निगाह डालती रहा करना जहाँ सैण्टा के साथ-साथ बचपन की वे सभी सच्चाइयाँ साफ़ नज़र आती हैं जिन्हें बड़े होकर हम देखने से मना कर देते हैं।

भगवान् का शुक्र है वर्जीनिया कि सैण्टा हैं और जब तक चन्दा अपनी चाँदनी बिखेरता रहेगा तब तक अपने बारहसिंगों के रथ पर सवार वे बच्चों के लिए ढेर सारे उपहार लिये, हर साल क्रिसमस पर घर-घर दस्तक देते रहेंगे।

तुम्हें बहुत-बहुत प्यार,
सम्पादक

अब हम बड़े क्या यह कहने की हिम्मत जुटा सकते हैं कि सैण्टा हैं ही नहीं?!

'पुरोधा', जुलाई २००६ से —वन्दना

उनकी कृपा का स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यंभावी और अनिवार्य है ।

— श्रीअरविन्द

अमरनाथ शिक्षण संस्थान, मथुरा (उ.प्र.)

फोन— 0565—3240006, 9358340375

Website : anvaschool.org, Email-amarnath.mtr1@rediffmail.com

Date of Publication: 1st December 2017
Rs. 15.00 (Monthly) Registered: SSP/PY/47/2015-2017
RNI No.18135/70 WPP No.TN/PMG/(CCR)/WPP-472/15-17

A school by The Vatika Group vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 2. My son's journey with this school started 3 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 2

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2017-18

ICSE Curriculum

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 to Grade 9

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gugaon
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gugaon
+91 124 4681600, +91 9821786363